श्री आत्म-आनन्द-शुक्ल जन्म-दीक्षा शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य मे

"आत्मसिद्धि शास्त्र" पर आधारित

शुक्ल-प्रवचन -३

(आगमवाणी-संदर्भो सहित)

मुनि सुमनकुमार

(श्रमणसघीय सलाहकार, मत्री)

किसका क्या

पुस्तक : शुक्ल-प्रवचन भाग ३

आधार : 'आत्मसिद्धि' श्रीमद् रायचन्द्र कृत

व्याख्याता : मुनि सुमनकुमार जी म.
(श्रमणसघीय सलाहकार-मत्री)

सम्प्रेरक : श्रोतागण

संस्करण : प्रथम — एक सहस्राधिक

मूल्य : पठन-पाठन

प्रकाशक : भगवान महावीर स्वाध्याय पीठ
(सचालित - एस.एस. जैन सघ, माम्बलम
४६, वर्किंट रोड़, जैन स्थानक,
टी.नगर, मद्रास-१७)

प्रकाशन · दि. २७ अक्टूबर १९९३ आसोज सुदि १३ बुधवार
४४वें दीक्षा दिवस के अवसर पर ।

टाईप सैटिग : कम्प्यूप्रिन्ट, मद्रास १७

मुद्रण : हिन्दी प्रचार प्रेस, मद्रास -600 017

व्यवस्था : श्री प्रदीपकुमार जैन, मद्रास
(सयोजक : महावीर वाणी प्रकाशन)

प्राप्ति स्थान : १. ग्रन्थ प्रकाशक का पता
२. पूज्य काशीराम स्मृति ग्रन्थमाला
महावीर जैन भवन, बाजार बस्तीराम
अम्बाला शहर (हरियाणा)
पिन १३४००२

प्रकाशकीय

सुधी पाठको! शुक्ल प्रवचन का तीसरा भाग प्रस्तुत करते हुए आते हर्ष हो रहा है। इसका कारण है 'भगवान महावीर स्वाध्यायपीठ' की ओर से प्रकाशित होना। इस स्वाध्याय पीठ की स्थापना श्रमण संघीय सलाहकार एवं मत्री श्री मुनि सुमन कुमार जी महाराज के ५८ वें जन्मदिन के उपलक्ष में दि.२६ जनवरी १९९३ को की गई है। इसी अवसर पर 'जैन स्थानक' का उद्घाटन भी हुआ। स्वाध्याय पीठ का उद्देश्य व्यवस्थित धार्मिक पठन-पाठन, सस्कार वपन, धार्मिक शिविर-आयोज़न, प्रभावना आदि है। ज्ञान वृद्धि के लिए पुस्तक.प्रकाशन का भी लक्ष्य रखा गया है।

'शुक्ल प्रवचन' मत्री मुनि श्री जी के बोलारम-चातुर्मास मे दिए गए श्रीमद् रायचन्द्र जी की 'आत्मसिद्धि' पर आधारित प्रवचनों का सकलन है। दो भाग पूर्व प्रकाशित हो चुके है, तीसरा भाग मुनि श्री जी के दीक्षा दिवस के अवसर पर प्रस्तुत है। तथा चौथा भाग यथाशीघ्र ही प्रकाश्य है।

मुनि श्री जी की प्रवचन शैली सहज, सरल तथा मधुर होने के साथ तात्त्विक प्रसंगो की विश्लेषण वाली है। सुबोध, सुगम भाषा में प्रवचन सर्व ग्राह्य है। इसलिए प्रकाशन का निश्चय किया है ताकि पाठक तत्त्वज्ञान का लाभ ले सके।

इस प्रकाशन के लिए कुछ उदारमना महानुभावों ने अर्थ सहयोग दिया है–

श्रीमति कमलादेवी धर्मपत्नी/श्री इन्द्रचन्द्र जी भंडारी, टी. नगर, मद्रास-१७
श्री सरदारमल जी राजेन्द्रप्रसाद जैन, टी. नगर, मद्रास-१७
श्री गजराज जी शाँतिलाल जी ओस्तवाल, बैंगलोर
श्री संतोषचन्द जी नाहर एवं बन्धु, तिरुकोइल्लुर (तमिलनाडु)
स्व. श्री देवराज जी सिंगवी की पुण्य-स्मृति में
मेसर्स. स्वस्तिक एजेन्सीज़– विल्लीपुरम् (तमिलनाडु)

इन धर्म बन्धुओं को इस साहित्य-प्रकाशन के सहयोग के लिए सहस्त्रश. धन्यवाद है। भविष्य मे ये शुभ कार्यो मे सहयोगी बनते रहे– इसी मगल कामना-भावना के साथ। जयजिनेद्र।

27 अक्टूबर '93 दीक्षा दिवस
जैन स्थानक,
46, बरकिट रोड, टी नगर, मद्रास-17.

भीखमचन्द गादिया
मंत्री, एस एस जैन सघ,
माम्बलम, मद्रास (तमिलनाडु)

मेरी बात

'शुक्ल-प्रवचन' का तीसरा भाग सुधी पाठकों के हाथो मे प्रस्तुत है । इसमे 'आत्मसिद्धि' के ३४ से ८६ = ५३ पदो पर आधारित व्याख्यान हैं । बोलारम (सिकन्द्राबाद) १९, गुलाबसदन-यर्टन रोड चार्तुमास के ५ से २८ सितम्बर तक का सकलन है ।

इसमे श्रीमद् के भावों को यथातथ्य रूप मे यथाशक्य प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया है, साथ ही आगम एव आगमबाह्य ग्रन्थों के सदर्भो के माध्यम से विषय को पुष्ट करते हुए श्रीमद् के सूक्ष्म सिद्धान्त-ज्ञान तथा जिनेद्र भगवान श्रमण महावीर के प्रति रही आस्था एव कथित आध्यात्मिक क्रियाओं का सम्यग् उल्लेख किया है ।

इस 'शुक्ल-प्रवचन' के सम्पादन मे स्वय श्रीमद् द्वारा लिखित सदर्भ तथा अन्य लेखको के ग्रन्थो के सदर्भ भी प्रकृत/उसी रूप मे दिए हैं — इसलिए कि वे यथार्थ हैं, मेरी भाषा मे सभवत. वे विकृत हो जाते, एतदर्थ उनका आभार मानता हूँ ।

साथ ही पुस्तक के प्रकाशन मे धर्म बन्धुओं का सहयोग और "भगवान महावीर स्वाध्याय पीठ, माम्बलम, मद्रास" की ओर से प्रकाशित करने को श्री एस.एस. जैन सघ के पदाधिकारीगण, प्रबन्धक, मत्री श्री भीखमचन्द जी गादिया तथा मुद्रण व्यवस्था के लिए श्री प्रदीप कुमार जी जैन (महावीर वाणी प्रकाशन, मद्रास) को साधुवाद देना कभी विस्मृत नहीं होगा । प्रकाशन की त्वरा मे इनका सहयोग ही है ।

तीसरे भाग की २६९ पृष्ठों की प्रतिलिपि एवं प्रूफ सशोधन के लिए अन्तेवासी सेवाव्रती मुनि सुमत भद्र को भी साधुवाद ।

पुस्तक पर सम्मति, अभिमत एव आशीर्वाद के लिए गुरुजनो, स्नेही साथी तथा समादरणीया साध्वीवृन्द के प्रति आभार प्रकट करता हूँ ।

चौथा भाग भी शीघ्र प्रकाशित है ।

— मुनि सुमनकुमार

जैन स्थानक, माम्बलम, मद्रास
२७ अक्टूबर १९९३
दीक्षा दिवस आसौज शुक्ला १३

जिनके अनुग्रह के वरदहस्त नें

सम्बल/आलम्बन/आश्रय/सहयोग/आशीवर्चन का कार्य किया

उन

महामहिम पूज्य गुरुमह गुरुदेव

प्रवर्त्तक पं. र. श्री शुक्लचन्द्र जी महाराज

तथा

जिनके प्रथम साक्षात्कार ने जीवन को मोड़
दिया; सोचने/बोलने करने की भव्य बलवति
प्रेरणा मिली और उपलब्ध हुआ आगम–ज्ञान एव
मिले शिक्षा के दो बोल जो जीवन को
प्रकाश दे गये ऐसे कुशल मार्गदर्शक

पूज्य गुरुदेव

शान्तमुद्रा पं. र. श्री महेन्द्रकुमार जी महाराज

द्वय गुरुप्रवरो के पुनीत कर–कमलो मे

"तेरा तुझको सौंपते क्या लगता है मोर"

सश्रद्ध, सभक्ति सादर समर्पित

— मुनि सुमनकुमार

अभिमत

—साध्वी विजयश्री

"आत्मसिद्धि-शास्त्र" अध्यात्मयोगी महापुरुष श्रीमद् रायचन्द्रजी की आत्मा के अस्तित्व को लेकर परमात्मा तक की यात्रा कराने वाली एक अनूठी कृति है । उसके एक-एक दोहे में विराट् भावों का संस्पर्श है, जो अपनी स्पष्टता के लिये विस्तृत विश्लेषण की अपेक्षा रखता है ।

यह अत्यंत आह्लाद का विषय है कि शुद्ध आत्म तत्त्व जैसे गहनतम विषय को श्रमण सघीय सलाहकार, मन्त्री पूज्य महामुनिवर श्री सुमनमुनि जी महाराज ने अपने प्रवचन का विषय बनाया और प्रत्येक दोहे को अपनी अनुभूति व संभूति के सांचे में ढालकर विस्तृत एवं तलस्पर्शी विवेचन प्रस्तुत किया है ।

ग्रथ को देखने से यह अनुभव होता है कि आप श्री 'शब्द सम्राट्' है । एक-एक शब्द को सुबोध, सरस एव रुचिपूर्ण बनाने के लिये अनेक समानार्थक शब्दो का उपयोग किया है । यही नहीं, आत्मा, परमात्मा, कर्त्ता, भोक्ता, मतार्थी, आत्मार्थी, मोह, मोक्ष, सद्गुरु आदि जटिल विषयो को उस प्रकार प्रस्तुत करना कि श्रोता चटखारे ले ले कर सुने और अंत में अगाध तृप्ति का अनुभव करने लगे, यह वस्तुतः उनकी प्रवचन शैली के मनमोहक रुप को उजागर करता है ।

समानार्थक दिखाई देनेवाले "आकुलता और व्याकुलता" का पृथक्करण करते हुए पृ.178 मे आप लिखते हैं कि—

आकुलता – इच्छित/मनचाही वस्तु नहीं मिलती तब तक मन मे उठने वाले संकल्प-विकल्प 'आकुलता' है ।

व्याकुलता – प्राप्त/मिली हुई वस्तु के लिये यह मेरे से दूर न हो जाए ऐसी चिता "व्याकुलता" है ।

अथवा यों कहें, कि इष्ट/प्रिय संयोग की तीव्र इच्छा आकुलता है, तथा उसके वियोग की चिन्ता व्याकुलता है ।"

इसी प्रकार ज्ञान-विज्ञान, निर्जरा-व्यवदान, प्रमत्त-प्रमाद आदि अनेक समानार्थक शब्दों को अपनी तीक्ष्ण-प्रज्ञा की छैनी से संवार कर निज रूप दिलाने में कमाल हासिल कर दिया है ।

ऐसी चिन्तन-मनन एवं कल्याणकारिणी, साथ ही अध्यात्म-रस के रसिकों को आनन्द-रस मे सराबोर करने वाली सुदर कृति को प्राप्तकर मुमुक्षु आत्माएँ परम तृप्ति का अनुभव करेंगी, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है ।

अनुक्रम

शुक्ल-प्रवचन

"त्रिभुवन पीड़ा हरणहार हो, तुमको मेरा नमस्कार,
जग के उज्जवल अलकार, प्रणाम तुम्हें मेरा हर बार ।
तीन जगत के नाथ आपके चरणो मे जाऊँ बलिहार
भवसागर के शोषण कर्त्ता, तुमको वन्दन बारबार ॥"

•

"दुनिया के चराचर जीवो पर कर्मो ने जाल बिछाया है,
क्या साधु-गृहस्थ क्या बाल-वृद्ध बस कोई न बचने पाया है ।
अतिशुभ कर्मो के आने से मुनियों का समागम मिलता है ।
जिनवाणी श्रवण करने से दुख जन्म-मरण का मिटता है ॥"

•

"दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाणं, सच्चेसु वा अणवज्ज वयति ।
तवेसु वा उत्तम बभचेर, लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते ॥"

•

"आत्मा छे ते नित्य छे, छे कर्ता-निजकर्म ।
छे भोक्ता वली मोक्ष छे, मोक्ष-उपाय सुधर्म ॥"

•

"अत्थि जिओ तह निच्चा, कत्ता-भोत्ता य पुण्ण-पावाण ।
अत्थि धुव निव्वाण, तदुवाओ अत्थि छट्ठाणेण ॥"

—प्रव सारोद्धार द्वार १४८ गा ९४१

"आत्मा है, नित्य है, पुण्य-पाप का कर्त्ता-भोक्ता है,
ध्रुव/शाश्वत निर्वाण/मोक्ष है, मोक्ष का उपाय है ।"

...ते साचा गुरु होय : पैंतीस

साराश	आत्म-ज्ञान जहॉ होता है वहॉ मुनित्व पाया जाता है और वही मुनि 'सच्चा गुरु' होता है । शेष तो कुलगुरु की मान्यता है। आत्मार्थी उस ओर देखता ही नहीं यानि वह आत्मज्ञान वाले व्यक्ति को ही मुनि और सच्चा गुरु मानता है 'आत्मसिद्धि' के ३४वे पद का पारायण ।

धर्म गीतिका बोल मनवा बोल नमो अरिहताण. . ।

मगलाचरण त्रिभुवन पीडाहरणहार हो.. ..।
दुनिया के चराचर जीवो पर कर्मो ने.....।

थुई दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाण.. ।

श्रमण भगवान महावीर का धर्मशासन, प्रभु की धर्मप्रज्ञप्ति। जिसमे आत्मा-अनात्मा/जड-चेतन, उसके ज्ञान-अज्ञान, स्वभाव-विभाव तथा उससे होनेवाला प्रभाव-कुप्रभाव, परिवर्तन आदि का उल्लेख है । किन्तु इनको बताने वाला मार्गदर्शक स्वय पारखी हो, ज्ञाता हो तो ही वह दूसरो को बता सकता है । इसलिए उसका सक्षम होना अति अनिवार्य है । इस सबके ज्ञान के लिए ही 'आत्मसिद्धि' शास्त्र का पारायण चल रहा है । श्रीमद् रायचन्द्र ने व्यक्तियो को दो भागो मे उनके विचारो और क्रियाओ के आधार/विभक्त किया है- मतार्थी और आत्मार्थी । "मत" को लक्ष्य बनाकर चलनेवाला मतार्थी और 'आत्मा' को लक्ष्य/ध्यान मे रख कर गति करने वाला आत्मार्थी ।

आत्मार्थी गुरु किसे मानता है इसके लिए श्रीमद् ने गुरुत्व का उल्लेख किया है, उसकी परिभाषा दी है-

"आत्मज्ञान त्यां मुनि पणु, ते साचा गुरु होय ।
बाकी कुलगुरु कल्पना, आत्मार्थी नहि जोय ॥३४॥

अर्थात् आत्मज्ञान है वहॉ मुनिपणा/मुनित्व है, वे ही सच्चे गुरु होते है, शेष तो कुलगुरु की कल्पना है, किन्तु आत्मार्थी उस ओर ध्यान नहीं देता! क्योकि आत्मज्ञान के विना भव-उच्छेद कहॉ ?

इस पद मे श्रीमद् ने इस युग मे आध्यात्म साधना मे भी जातिवाद का दुराग्रह था, इसलिए इसका निराकरण करते हुए " आत्मज्ञान " लक्षण की प्रतिपादना से सच्चे गुरु को व्याख्यायित किया है । आत्मज्ञान शून्य मुनि को कुलगुरु मानने की परम्परा मात्र कल्पना है । अमुक-अमुक जाति-कुल वाले को साधुसघ मे दीक्षित नहीं किया जा सकता, अमुक को साधुदीक्षा तो दी जा सकती किन्तु आचार्य-उपाध्याय आदि वरिष्ठ पद नही दिये जा सकते । ये अमुक जाति विशेष के लिए नियत हैं आदि । और यह मान्यता तो १९ वीं शताव्दी तक भी वडे गौरव के साथ दोराही जाती रही है तथा इससे समुदायो मे वर्गीकरण /पृथ्कता को भी वढावा मिलता रहा है ।

बन्धुओं! किसी जाति विशेष मे साधना का उत्कर्ष और अपकर्ष/हानि-वृद्धि को कैसे नियत किया जा सकता है । आत्म परिणामों का उतार-चढाव/स्थैर्य-शैथल्य उसके स्वकृत कर्म के उदय-अस्त पर निर्भर है, न कि जाति-कुल पर । मतार्थी कुल-गुरु की कल्पना मे ही उलझा रहता है । किसी उच्च कुल मे उत्पन्न होकर कोई साधु-साधना स्वीकार करके, यानि दीक्षा लेने के वाद क्या वह साधना/आचार मे ढीला-पासत्था नहीं हो सकता या उच्चचारित्रवान् ही वना रहेगा इसकी क्या प्रतीति है गारन्टी है और निम्नकुल वाला आचार शिथिल हो जायेगा । इसलिए पूछ रहा हूँ मै, कि 'कुलगुरु' कौन है ? अपने घर/परिवार का वना हुआ या जिसे हम कुल परम्परा से गुरु मानते आये है 'वह' और उन्हीं गुरु की परम्परा के शिष्य हमारे कुलगुरु या हमारी

जाति विशेष का बना साधु 'कुलगुरु' है । किन्तु यह भी उपयुक्त नहीं बैठता । कबीर भक्त ने भी यह कहा है –

"जात न पूछो साध की, पूछ लीजिए ज्ञान ।
मोल करो तलवार का, छोड़ दीजिए म्यान ॥"

किन्तु इनमे कुलगुरु मे आत्मज्ञान है या उससे शून्य है क्योकि कहा है न **"आत्मज्ञान त्या मुनि पणु"** जहॉ आत्मज्ञान है वहॉ मुनित्व है – यदि आत्मज्ञान गुण से शून्य है तो वह मार्ग–दर्शक नहीं हो सकता, भले ही उच्च कुल या जाति का हो ।

आत्मार्थी शरीर को तरजीह नहीं देता, गुण को साधना को तरजीह देता है, उस की दृष्टि मे कुल/खानदान, जाति, वर्णादि का कोई महत्व नही । जिनधर्म मे जाति को कहॉ महत्व दिया है ? उसने तो समग्र मनुष्यो की एक ही जाति स्वीकार की है – **"मनुष्य जातिरेकैव ।"** श्रावक हरजसराय ने कहा है –

"जाति को काम नहीं जिनमार्ग, सयम को प्रभु आदर दीनो।"

जिनमार्ग में जाति का काम नहीं है वहॉ आदर व्यक्ति के सयम का है, आचार का है । इसलिए आत्मार्थी के लिए यही आदेय है –

"आत्मज्ञान त्या मुनिपणुं, ते 'साचा गुरु होय ।"

व्यक्ति को मार्गदर्शन की अपेक्षा रही है और विशेष कर आध्यत्म जीवन के लिए । क्योकि स्वभावत मनोवृत्ति शरीर–इन्द्रिय और मन विषयो को सन्तुष्ट करने मे रहती है । इनसे परे जो 'तत्व' आत्मा है उस ओर दृष्टि का बने रहना अति दुष्कर है इसलिए मार्ग, मार्गदर्शक/गुरु की आवश्यकता है। वह गुरु की जीवन सगति, पर्युपासना/सेवा–भक्ति हमारे ज्ञान, त्याग, आत्म–नियत्रण, मनोनिग्रह का निमित्त हो सकता है। किन्तु जहॉ 'आत्मा' अनात्मा की अनुभूति तो दूर उसके

लिए प्रयास/प्रयत्न, साधना भी दिखाई नहीं देती, तप नहीं, त्याग नहीं, नियम नहीं, व्रत पालन नहीं दिखाई देता, वहाँ आत्मज्ञान की हमे उपलब्धि, मार्ग-दर्शन की प्राप्ति क्या होगी ? मार्गदर्शक गुरु के जीवन का हमारे मन पर प्रभाव पडना चाहिए । एक शायर ने कहा है –

"बड़ों के कहने का नहीं, व्यवहार का असर पडता है,
ऊँची बात का नहीं, ऊँचे आचार का असर पड़ता है ।
तुमने तो चाबी ही उल्टी पकड़ ली, ताला कैसे खुले,
आदमी पर फटकार का नहीं, प्यार का असर पडता है"

बन्धुओ! आज हमारी धर्म समाज मे, सम्प्रदाय/सघ से सम्बन्धित साधु-साध्वी वर्ग को समवेत सार्वभौम सम्यग् आदर उपलब्ध नहीं है । क्यो ? इसलिए कि व्यक्ति अपनी आम्नाय से साधु-साध्वी को ही प्रश्रय देता है, उसकी सार्वभौम दृष्टि नहीं रही । "ये ही हमारे गुरु है" वह सिमट कर रह गया है अपने समुदाय मे, गच्छ मे । किन्तु जो आत्मार्थी साधु है, वे किसी साधुकुल मे, गण मे, सघ मे है जिनको आत्मबोध है, उस आत्मबोध के अनुसार जीवन चर्या-क्रिया/साधु सयम पालन करते हैं और उससे हमे ज्ञान प्राप्त होता है एव प्रेरणा मिलती है तो हमे नहीं लेना चाहिए ? अवश्य लेना चाहिए । ये कुल-गण सघ- समुदाय- गच्छ क्या है ? एक व्यवस्था है, व्यवस्था की दृष्टि से एक सघ है, उसकी भी एक व्यवस्था है, इनकी भी एक व्यवस्था है, साधु-साध्वियो की, श्रावक-श्राविकाओ की एक व्यवस्था है और उस व्यवस्था की दृष्टि से यह चलता है, लेकिन जहाँ तक आध्यात्म पक्ष है, ज्ञान-दर्शन-चरित्र का, यदि वहाँ पर ये गुण विद्यमान है वह गुणी है, वे ही हमारे कौन है हमारे आराध्य है, वे ही पूज्य होते है उन्हीं से हमे सब कुछ प्राप्त हो सकता है । इसलिए जब हम आत्मार्थी बनते है तो वहाँ कोई भेद-जाति, वर्ण-कुल का नही रहता । वहाँ **"नमो लोए सव्वसाहूणं"** लोक मे जितने साधु है, उनको मेरा नमस्कार है ।

आगम मे एक घटना का उल्लेख है कि अभीचि कुमार सिद्धभगवतो को वन्दना करते हुए 'राजा उदाइ' के सिद्ध जीव को छोड़ कर शेष सर्व सिद्धो को वन्दना करता है । घटना यूँ है—

सिन्धु सौवीर देश, बीतभय नगर के राजा उदायन दीक्षित हुए, उन्होने अपने प्रिय पुत्र को राज्य न देकर अपने भानजे को राज्य दे दिया । पुत्र को राजतिलक न करने का कारण उसकी अयोग्यता, दुर्व्यवहार आदि नहीं अपितु राजा के मन का भाव था कि **"राजेश्वरी सो नरकेश्वरी"** राज्य शासन मे गृद्ध/आसक्त होकर अपने जीवन का विनाश कर लेगा और भव-भवान्तर मे जन्म-मरण, रोग-शोक आदि तापो से तप्त रहेगा, इसलिए राज्यसत्ता से विलग रहकर जीवन बिताए।

उग्र साधना, समता भाव से उपसर्ग आदि सहन करते हुए राजर्षि उदायन कर्म क्षय करके मुक्त हो गये । इधर राजकुमार अभीचि इस राजसिहासन से वचित रहने से दुखी हो गया और अन्तत वीतभय नगर को छोडकर अगदेश की राजधानी 'चपा' मे राजा कौणिक की शरण मे आ गया । पिता के प्रति मन मे रहे "वैर" के कारण वदन करते हुए **–"नमो सिद्धाण"** कहते हुए भाव रखता है – "पिता राजा/मुनि का जीव जो सिद्ध हुआ है उसको छोडकर शेष सब सिद्धो को नमस्कार ।" श्रावक धर्म को स्वीकार-आचरण करते हुए भी मृत्यु पर्यन्त उस वैर को नहीं छोडा और न ही आलोचना की, शल्य को नही निकाला ।

बन्धुओ। फिर अपन भी अमुक-अमुक श्वे मू./ तेरापथ/दिगम्बर तथा स्थानकवासी सघ मे भी विभिन्न समुदाय हैं उन साधुओं को छोडकर जो-जो अपनी मान्यता वाले है उन साधुओ को मेरा नमस्कार। ऐसी मन मे पहले भावना भा ले, उसके बाद नमस्कार **"नमो लोए सव्वसाहूण"** कहें फिर ऐसा दोष नही लगेगा, आप की सम्यक्तत्व/सम्यग्दर्शन मे, यदि ऐसा नहीं बोले तो दोष लग जायेगा ! क्यो ठीक है न यह ? बन्धुओ । कितना अज्ञान है यह और हम आत्मा के

निकट कहॉ है ? आत्मार्थ है ? आत्मार्थ कहॉ है, हमे गुण को लेना है । क्या पहचान है क्या मापदण्ड़ है आपके पास कि ये साधु है, ये साधु नही है, सभी हम वेष पहने बैठे है लेकिन हमे तो गुण को क्या करना है नमस्कार करना है । सर्व प्रथम तो वन्दन वेश को होता है, देह को होता है, उसके बाद गुण तक पहुँचते हैं, पहले गुण दृष्टि कहॉ रहती है ? एक पजाबी कहावत है—**"राह पए जाणिये या बाह पए जाणिये"** किसी की कोई पहचान कैसे हो, या तो **'राह पए'** अगर कहीं साथ यात्रा होती हो तो पता लगता हैं कि कौन आदमी किस स्वभाव का है, किस आचार का है या **'बाह पए जाणिए'** कोई वास्ता/व्यवहार पडा हो किसी काम मे कोई । इन दो तरह से पहचान होती है, पहले ही एकदम कैसे पहचान हो जायगी आपको। तो इसलिए यहॉ यह बात कही है कि मूल मे **"नमो लोए सव्व साहूणँ"** उच्चारण मात्र से यथा सभव जिसमे साधुत्व है, जिस शरीर मे, जिस वेष मे, वहीं हमारा भाव-वन्दन पहुँच जाता है क्योकि यहॉ हम गुण को ग्रहण करते है इसलिए ।

श्रीमद्रायचन्द्र कहते हैं – **"प्रत्यक्ष सद्गुरु प्राप्ति नो गणे परम उपकार"** अर्थात् आत्मार्थी व्यक्ति को प्रत्यक्ष/साक्षात् रूप मे जब सद्गुरु मिलते हैं प्राप्त होते हैं तो **'गणे परम उपकार',** तो उनका वह परम उपकार मानता है, कृतज्ञता अर्पित करता है, अहसानमद रहता है, और कहता है "सद्गुरु के बिना ज्ञान कहॉ?" सद्गुरु से ही ज्ञान मिलेगा ।" पूर्व पठित और श्रुत तत्त्वो मे उत्पन्न हुए सशय/तर्क/प्रश्न को विशेष जानने की उत्कण्ठा का शास्त्र या आगम से समाधान नही होता, जिज्ञासा शान्त नही होती किन्तु गुरुदेव से प्रत्यक्ष मे उनका समाधान हो जाता है । इसलिए आत्मार्थी गुरु के योग होने पर कृतज्ञता ज्ञापित करता है परम उपकार मानता है और इसलिए विशेष भी कि "सद्गुरु का योग भी दुर्लभ है" ।

"सत-समागम-हरिकथा, तुलसी दुर्लभ दोय ।"

सत तुलसीदास कहते है –सत पुरुषो का सत्सग और भगवत्कथा, इन दोनो का समागम/जीवन मे प्राप्त होना दुर्लभ है । एक अन्य चिन्तक ने भी कहा है –

"कि दुर्लभः? सद्गुरुरस्ति लोके, सत्संगति–ब्रह्मविचारणा च ।
त्यागो हि सर्वस्य शिवात्मबोधः को दुर्जयस्सर्वजनैर्मनोजः "

अर्थात् लोक मे सद्गुरु, सत्सगति, ब्रह्मविचारणा/ब्रह्म चिन्तन, त्याग, सबका कल्याण चाहना और आत्म–बोध का प्राप्त होना तथा कामदेव को जीतना दुर्लभ है यानि ये दुर्लभ्य हैं, अलभ्य तो नहीं किन्तु दुर्लभ अवश्य है ।

बन्धुओ। इन सबके लिए पुण्य कर्म का उदय भाव, अन्तर्रुचि का जागृत होना/जिज्ञासा का होना अनिवार्य है । यदि ये नही है तो दुर्लभ है इनका मिलना । क्योकि पुण्य/सद्भाग्य, अन्तर्रुचि आदि एक दूसरे पर आश्रित है ।

बस, आज इतना ही ..।

अन्तिममगल : अरिहत मगल...! चत्तारि मगल...!

सोमवार ५ सितम्बर ८८

गुलाबसदन
१९, बर्टन रोड, बोलारम–१०
सिकन्दराबाद

हवे कहुँ आत्मार्थी ना.....! छत्तीस

कल	३४ वे पद मे "आत्मज्ञान वाला ही मुनि होता है और वही 'सच्चा गुरु' होता है, शेप तो कुल गुरु की कल्पना है ।" इस प्रकार मुनित्व और सच्चे गुरुत्व की चर्चा थी ।
आज	३५-३६-३७ वे पदों मे प्रत्यक्ष सद्गुरु का योग और उसका फल, कृतज्ञ रहना उनके प्रति, तीनो योगो से आज्ञा का धारण करना । अन्तर्हृदय मे यह सोचकर ही सद्गुरु शोध करता है कि तीन काल मे मोक्ष का मार्ग एक ही रहे, व्यवहार सम्मत जीवन क्रिया जिससे परमार्थ की ही प्रेरणा मिले । आत्मार्थी की मात्र आत्मकल्याण की दृष्टि रहती है, उसे लोकेपणा का मनोरोग नहीं रहता ।

धर्म गीतिका मत्र श्री नवकार, सकट दूर करे....!

मगलाचरण · त्रिभुवन पीडाहरणहार हो...!

· दुनिया के चराचर जीवो पर कर्मो ने.... !

थुई दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाण.....!

श्रमण भगवान महावीर का धर्मशासन/धर्म प्रज्ञप्ति जीवन के लिए सम्बल रूप हैं । व्यक्ति उसका सहारा लेकर गति करे तो वह भी जीवन मे आने वाले आशा-निराशा के झझावातों के थपेडो से आहत नहीं होता, मार्गच्युत नहीं होता । क्यो ? इसलिए कि प्रभु-वाणी का सम्बल उसे आस्था के मार्ग मे स्थिर रखता है कि -आत्मन् ! तू चेतन है, जड नही । तेरा स्वरूप ज्ञान-दर्शन-सुख और शक्ति है, तू निर्वल नहीं, सबल है । अपने स्वभाव मे आने पर ही तुझे अपने स्वरूप का भान होगा । पुद्गलार्थी न होकर आत्मार्थी बनोगे तो **"आत्म अर्थ सुख साज"** को प्राप्त कर सकोगे ।

यहॉ कल आत्मार्थी के लक्षण चल रहे थे, मतार्थी के लक्षण समाप्त हुए और आत्मार्थी के लक्षणो मे ३४वे पद का पारायण कल आया-

"आत्मा ज्ञान त्यां मुनिपणु, ते साचा गुरु होय ।
बाकी कुल गुरु कल्पना, आत्मार्थी नहीं जोय ॥"

आज ३५वे पद मे श्रीमद् उन "सच्चे गुरु/मुनि के प्रत्यक्ष मिलन की चर्चा करते हुए कहते हैं–

"प्रत्यक्ष सद्गुरू प्राप्ति नो, गणे परम उपकार ।
त्रणे योग एकत्व, थी, वरते आज्ञा धार ॥३५॥"

इस पद मे श्रीमद् ने आत्मार्थी के स्वभाव का उल्लेख करते हुए दो बातो/लक्षणो का निर्देश किया है –

पहला सद्गुरू का प्रत्यक्ष योग मिलने/साक्षात् दर्शन सत्सग/पर्युपासना के अवसर को 'परम उपकार' मानता है ।

दूसरा गुरुदेव की आज्ञा को मनादि तीन योगों की एकाग्रता से पालन करता है । आओ, अब तनिक इस पर विस्तार से चर्चा कर ले –

"प्रत्यक्ष सद्गुरु प्राप्ति नो" जिसे सद्गुरु की प्रत्यक्ष मे उपलब्धि हो गयी, कहॉ तो ढूँढना पडता है, कि मुझे कोई रास्ता दिखाने वाला, रहवर/मार्गदर्शक मिले, और कहॉ प्रत्यक्ष मे सद्गुरु की प्राप्ति हो गयी हो, तो वहॉ **"गणे परम उपकार"** तो उनके उपकार को परम श्रेष्ठ मानकर चलता है। धरती पर मनुष्य जगत मे तीन उपकार मुख्य हैं – माता–पिता, भर्ता/सहयोगी और धर्माचार्य/धर्मगुरु का ।* इनमे सर्व प्रथम माता–पिता जन्म/पोषण–पालन की दृष्टिसे, सहयोगी का धन आदि जीविका निर्वाह के योग्य बनाने मे सहयोग के लिए तथा धर्म गुरु का न्याय–नीति, धर्माचरण के लिए प्रेरणा/उपदेश द्वारा अधर्म मार्ग से धर्म मार्ग मे लाने के लिए उपकार है । यह उपकार माता–पिता, सहयोगी इन दोनो से श्रेष्ठ है । क्योकि माता–पिता जन्म देते हैं, पालन–पोषण

---

* स्थानाग ३/१/१३५
(लघु साधु वन्दना ८ वॉ पद–मुनि आसकरणजी)

करते हैं, और वन्धुजन कोई, सहयोग देता है जीवन का निर्वाह करने के लिए किन्तु 'धर्मगुरु' का होना जीवन निर्माण के लिए है । गुरुदेव ही पाशविक, राक्षसी/दानवी वृत्ति को दूर कर मानवी वृत्ति/आध्यात्म वृत्ति मे मनुष्य को जोड़ते हैं, जिससे मनुष्य यहॉ नारकीय, पशुता तथा दानवी जीवन न विताकर मानवी दृष्टि से जीता है । इसे एक गुरु भक्त एव साधक मनीषी कविवर ने सुन्दर शव्दो मे व्यक्त किया है 'सत्गुरु का एक भी वचन यदि हृदय मे पैठ जाए तो वह व्यक्ति/आत्मा 'नरक गति', मे नहीं जाता ।'

"एक वचन श्री सत्गुरु केरो, जो पैठे दिल माय रे प्राणी ।
नरक गति मा ते नहिं जावे, एम कहे जिनराय रे प्राणी ॥
साधु जी ने वन्दना नित–२ कीजे, प्रात उगन्ते सूर रे प्राणी ।
नीच गति में ते नही जावे, पामे ऋद्धि भरपूर रे प्राणी ॥"

भगवान महावीर ने श्री मुख से फरमाया है कि इन तीनों के / माता–पिता, भर्ता, धर्माचार्य/ ऋण से व्यक्ति का उऋण होना, उनका प्रत्युपकार देना/करना अति कठिन है ।* इसलिए उनके प्रति सदा कृतज्ञ रहता है, उनका परम उपकार मानकर चलता है ।

बन्धुओ, आज के वातावरण मे हम क्या पाते है; अहसानमन्दी या अहसान फरामोशी, कृतज्ञता अथवा कृतघ्नता ? अधिकाश देखने मे नकारात्मक पक्ष ही आता है । और तो क्या घर के पुत्र–पुत्रियॉ भी कहते देर नहीं लगाते कि "क्या किया आपने हमारे लिए ?" आदि–आदि । भाग्यशाली हैं वे अभिभावक जिन को ये शव्द सुनने को नहीं मिलते, अन्यथा, वरना तो सव जगह महाभारत ही चलता रहता है । और ऐसे शव्द कुत्सित शव्द वोलता है, कैसे सुनाऊॅ आपको, आपको ज्ञात ही है–"वाप ने किया ही क्या है हमारे लिए ?" अर्जुन जी। अभी तक कुछ किया ही नहीं, जन्म हुआ तो

---

* तिण्ह दुप्पडियार समणाउसो ! त जहा – अम्मापिउणओ, भटिस्स, धम्मायरियस्स । – स्था ३/१/१३५

पाला-पोषा, शिक्षित-दीक्षित किया, हर प्रकार के साधन जुटाए, माता-पिता ने अपनी सुख-सुविधा को छोडकर सतान के लिए व्यवस्था की है फिर भी कहता है ? इसलिए, क्योकि उसके मन की इच्छा, जो वह चाहता था नहीं हुआ, इसलिए कहता है- किया ही क्या ? एक सौ बात उनकी मानते रहें आप, मॉ-बाप बहुत अच्छे है, एक को इन्कार कर दे तो निन्यानवे की हुई बेकार जायेगी । जहॉ ऐसी कृतघ्नता आ जाय पुत्र-पुत्री मे, भक्त मे भगवान के प्रति, शिष्य मे गुरु के प्रति, भगवान की भक्ति करते करते अनायास कोई ऐसी घटना घट जाए तो कहने लगता है-"रे भगवान मेरे को क्या मालूम था तू ऐसा करेगा", भगवान को ही कोसने लगता है । भर्ता/सहयोगी पर भी क्रोध करता है, उसके प्रति भी कृतघ्न हो जाता है । समर्थ होने पर उसके उपकार को भी विस्मृत कर देता है । अरे । जिस प्रभु को मानते है, उपासना करते है उसने क्या बिगाड दिया ! लेकिन आदमी जब दुःख मे/रोष मे/मोह मे होता है उस समय किसी को नहीं मानता । इसलिए कहावत है - **"न गुर का ना पीर का",**- नुगरा, गुर-पीर का किसी का नहीं जब नुगरा ही हो गया तो वह आदमी किसका, इसलिए यहॉ कहा ऐसे जो गुरुदेव हैं, उनकी कृतज्ञता ज्ञापित करता है, परम उपकार मानता है ।

आगम प्रवचन है कि - "जिस धर्म गुरु के निकट मे रहकर धर्मपद/शिक्षा ग्रहण की है उसकी विनय करनी ही चाहिए । मन से, वाणी से तथा काया से अञ्जलिबद्ध होकर 'हे गुरो।' कहते हुए सिर झुकाकर नित्य सत्कार करे । "लज्जा-दया-सयम-ब्रह्मचर्य, कल्याण के पात्र विशोधि के स्थान/कारण हैं, ऐसे गुणो वाले गुरु को जो मुझे सदा अनुशासित करते हैं उन गुरु की मै सदा पूजा करूँ ।"* वही विनीत है, पात्र है गुणो का जो गुरु आज्ञा को तीनो योगो से पालन करता है-

---

* दश ९/१/१२-१३

"आणानिद्देसकरे, गुरूणमुववाय कारए ।
इंगियागार सपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चइ ॥"*

और भी कहा है- "आचार्य के मनोगत, वचनगत भाव एव वाणी को जानकर उन्हें वचन और काया द्वारा पूर्ण करें ।" आगम वचनो को पढने के बाद यह निष्कर्ष सामने आता है कि 'गुरु आज्ञा' को मात्र वाणी से प्रशसा करता हुआ, 'तहत्ति-२ न कहता रहे, उसके लिए प्रयत्न भी करें तो ही **"त्रणे योग एकत्व थी वर्ते आज्ञाधार"** का रूप सार्थक होता है । एक उदाहरण से यह और स्पष्ट हो सकेगा । तनिक ध्यान देवे-

हमारे गुरु महाराज सुनाया करते थे, अग्रेजो के जमाने की बात है, लाहौर से एक पिता ने अपने दो पुत्रों को पत्र लिखे, जो एक अम्बाला मे और दूसरा जालन्धर मे था, मेरा ऑफिसर अमुक-अमुक तारीख को लाहौर से रवाना होकर जालान्धर आयेगा, और दूसरे को लिखा कि अमुक तारीख को वह अम्बाला पहुँचेगा । क्योकि उन दिनो अम्वाला और दालन्धर दोनो जगह कमिश्नरी होती थी । वहाँ आने पर उनका आदर, मान, स्वागत, सत्कार करना, उनको मिलने स्टेशन पर पहुँच जाना या रैस्ट हाउस मे आए तो वहाँ जाना ।

पिता का पत्र आया तो एक वेटे ने अपनी पत्नि को ले जाकर दिखाया - देखो! पिता जी का पत्र आया है, और उसे माथे पर लगाता है, और कहता है मेरे पिता जी कितने अच्छे हैं पत्र लिखा है उन्होने ! पत्नि कहती है - 'पत्र तो लिखा है, इसमे क्या लिखा है यह तो पढ लो!' खोला नहीं उसने, वन्द का वन्द ही है । खैर, पत्नि के आग्रह पर पत्र खोला, पढा, पढकर पुन बोलता है - 'धन्य है पिता जी वडी कृपा की आपने मेरे पर ! प्रशसा किए जा रहा है और उस पत्र को उठा कर रख दिया । पत्नि कहती है

---

* उत्त १/२,४३

–'इसमे जो लिखा है उसका ध्यान करो, वह ऑफिसर आयेगा उसके लिए कुछ सोचो, समझो ।' लेकिन व्यर्थ ! खत्म हो गई बात।

दूसरे बेटे के पास जो पत्र गया था, उसने पत्र को पढा, रख दिया । और क्या करता ? जालन्धर वाला जो बेटा था, वह न तो समय पर वहाँ स्टेशन/गैस्टहाउस पहुँचा और न उसने कुछ किया ही । पिता ने चलते हुए कहा था कि मेरा बेटा आपको वहाँ मिलेगा । ऑफिसर ने ध्यान रखा, लेकिन यहाँ तो कोई नहीं आया । ऑफिसर जब अम्बाले पहुँचा तो अम्बाला मे रहने वाले पुत्र ने अगवानी की, उसने सब प्रकार से जो पिता ने आज्ञाएँ दी थी पालन किया । बात आयी गई हुयी । ऑफिसर पुन लाहौर लौट आया । उसने जा करके बताया कि 'एक बेटा तो तुम्हारा मिला मुझे; बडा अच्छा है सब व्यवस्था की उसने बडी तारीफ की दूसरा बेटा तो मिल नही पाया, हो सकता है कही गया हो ।

उस पिता के पौत्र की वर्ष गाठ पर सभी रिश्तेदार एकत्रित हुए तो लाहौर से बाप भी जालधर आया । उसने पूछा– बेटा! मैने एक पत्र लिखा था, हॉ पिता जी, दौड के गया और पत्र ले आया जो सम्भाल कर रक्खा हुआ था । दो साल के बाद भी निकाल कर ले आया, कहता है, यह मिला था पिताजी। पिता कहता है मै क्या करूँ इसका ? आपका है पिताजी, आपके हाथ का लिखा हुआ है । फेक दिया पिता ने । उसने उठाया, माथे पर लगाकर उसको जेब मे डाल लिया । अरे। ओ नालायक, जो इसमे लिखा था वह तो तूने किया नहीं, जो मैने आज्ञाएँ दी थी उसको तो तूने माना नहीं, और पत्र सम्भाल कर रख लिया, क्या करेगा इस पत्र का ? "आपका पत्र है न!"

बन्धुओ ऐसा है बेटा । अब दूसरे बेटे से पूछा – तूने भी पत्र सम्भाल कर रक्खा होगा ?" वह कहता है – पिताजी! यह तो ध्यान नहीं कि पत्र कहाँ पर रखा है या

नहीं, फाड-फूड दिया होगा, लेकिन जो आपने हुक्म दिया था, आज्ञा दी थी, मेरे से जो हो सका, उतनी मैंने कोशिश की, आपकी आज्ञा का पालन किया है, यह तो मालूम था उसको कि उसने पालन किया है । मै आपसे प्रश्न करूँ किस पर खुश होगा पिता ? और मै किस पर खुश होऊँ वोलारम मे वताइये ।

धर्म वन्धुओ! ये जो धर्म शास्त्र है/आज्ञाएं है । उनको सम्भाल करके रक्खा हुआ है, है न, क्या भगवान की आज्ञाएं नहीं हैं ये ? तीर्थकरो की आज्ञा है, गणधर देवो की आज्ञा है । उनके प्रवचन/धर्म देशना/उपदेश को आगे आचार्यो/सत-साधु पुरुषो-गुरुओ ने समय-समय पर इसका विशलेषण करते हुए अपनी आज्ञाएँ/हितायते दी है। है ना, लेकिन हम पालन करते है श्रावक धर्म का, कितना पालन होता है साधु धर्म का, जो आज्ञाएं दी है उसके अनुसार मन से, वचन से, काया से, यानि यहाँ क्या कहा – **"त्रणे योग एकत्व थी"** तीनो योगों को एकाग्र करके, ऐसा नहीं कि मन से तो सोच लिया कि हम नहीं करेंगे, या अमुक करना चाहिए, वाणी के द्वारा कहा हॉ जी/विल्कुल ठीक है, लेकिन काया के द्वारा करने धरने को कुछ नहीं । इसलिए कहा मन-वचन-काया तीनों योगो को एकाग्र करके **"वरते आज्ञा धार।"** जो आत्मार्थी होता है वह पूरी तरह से आज्ञा का पालन-परिपालन करता है । तो हम भी क्या करते है हमारे जो शास्त्र हैं, उनको पिता के पत्र की तरह सम्भाल करके रक्खा हुआ है । क्यो हुकमचन्द जी, घडी सम्भाल कर रक्खी हुई है न, टाईम देखो न देखो, घडी सम्भाल कर रक्खी हुई है, सम्भाल के रखना ठीक है, पडी चीज अच्छी होती है । लेकिन टाईम को देखकर उसका क्या करना ? उसका सदुपयोग करना यह भी तो जरूरी है न, अगला कदम तो ऐसे है । अव करणीय का उल्लेख करते है —

"एक होय त्रण कालमां, परमारथ नो पंथ ।
प्रेरे ते परमार्थ ने, ते व्यवहार समत ॥३६॥

आत्मार्थी के लिए श्रीमद् ने कहा कि – "तीनो काल मे परमार्थ यानि आत्मा से परमात्मा होने, आत्मा का कर्म से मुक्त होने का मार्ग एक ही रहता है, वह बदलता नहीं और आत्मार्थी उस व्यवहार का आचरण करता है जो परमार्थ सम्मत हो, परमार्थ को प्रेरित करता है ।" अब विस्तार से चर्चा करके इस तथ्य को समझने का प्रयत्न करें

इस पद मे कहा गया है, परमार्थ का जो रास्ता है, मोक्ष का जो मार्ग है, आत्म तत्व है, और उसकी जो दशा है, जो स्वरूप है और उसके शुद्धि करण के जो उपाय हैं ये सब **"एक होय त्रण कालमां"** तीनो कालो मे एक ही होने चाहिए । परमार्थ के जितने भी उपाय है वे तीनो काल मे यकसा ही रहते हैं । ऐसा नही है काल बदलता है, तो उपाय भी बदल जाते हैं उसके, ऐसा कुछ नहीं । अब प्रश्न खडा होता है वह परमार्थ का पथ/मार्ग/उपाय क्या है जो बदलता नहीं । परमार्थ यानि मोक्ष का मार्ग है ज्ञान–दर्शन–चरित्र/तप । ***'सम्यग्ज्ञान–दर्शन–चरित्राणि मोक्षमार्गः'** कोई काल ऐसा नही था और न है और न होगा जब ये उपाय न हो । कैसा भी काल हीयमान – वर्द्धमान हो उपाय वही रहेगा । क्यो ? इसलिए कि आत्मा/जीव का लक्षण ही उपयोग है तथा वही उसका मूल स्वरूप और दशा है अत उसे मुक्त होने के लिए अपने स्वरूप मे आना ही होगा । उपयोग क्या है ? ज्ञान और दर्शन । यह ज्ञाता और द्रष्टा का रूप है । पूर्ण ज्ञाता और द्रष्टा बन जाता है आत्मा जब वही मुक्त अवस्था है, परमार्थ = परम + अर्थ की प्राप्ति है । उन उपायो को जीवन मे जब व्यवहार होता है तब यह बात ध्यान देने योग्य है कि वह व्यवहार स्वार्थ–परार्थ तक ही नहीं बल्कि परमार्थ तक पहुँचे यानि परमार्थ का प्रेरक हो अन्यथा लाभ नहीं होगा, जैसे कहा है – **"प्रेरे ते परमार्थ ने"** जो परमार्थ की प्रेरणा देता है, परमार्थ को जगाता है, यानि परमार्थ के लिए हमे उकसाता

---

* उत्त २८/२ गाथा

है, **"ते व्यवहार समन्त"** वही व्यवहार; सम्मत, अनुकूल है और हमे अपनी आत्मा के कल्याण हेतु, शुद्धि करण हेतु /जो जो प्रेरित करता है। इन सर्व उपायो को वताता है वह ही व्यवहार सम्मत कहलाता हे। आत्मार्थी उस व्यवहार सम्मत उपाय को करता है अर्थात् परमार्थ के विरुद्ध वह उपाय/क्रियाओं का आचरण नहीं करता । आगे श्रीमद् कहते हैं कि आत्मार्थ पुरुष इस परमार्थ मार्ग का अन्तर्हृदय मे चिन्तन करता हुआ सदा सतुरु के योग/मिलन को आतुर रहता है, सद्गुरु की निरन्तर शोध/खोज करता है । उसको एक आत्मार्थ के सिवा मान–सत्कार/पूजा–प्रशसा, रिद्धि सिद्धि आदि किसी भौतिक वस्तु की इच्छा नहीं होती । ये वॉछाएँ मनोरोग हैं ।

एम विचारी अन्तरे, शोधे सतुरु योग ।
काम एक आत्मार्थ नुं, बीजो नहीं मनरोग ॥३७॥

इस पद मे **"एम विचारे अन्तरे"**, – आत्मार्थी अपने अन्तर मे/अपने हृदय मे विचारणा करता है, यानि यही सोचता है कि मुझे क्या मिले ? वह मार्ग मिले, कौन सा मार्ग व्यवहार सम्मत, परमार्थ का मार्ग मुझे प्राप्त हो, सद्गुरु की मुझे उपलब्धि हो, मात्र आत्म–अर्थ/आत्मा सम्वन्धी कार्य मे प्रवृत्ति हो । इससे भिन्न मनोरोग न हो । ये सव वाते मन मे सोचते हें, और इनकी प्राप्ति के लिए – **'शोघे सद्गुरु योग'**, जैसे चातक पक्षी स्वाती–वूँद की/वर्षा जल की क्या करता हे, चाह करता है कि मुझे वह प्राप्त हो, तो आत्मार्थी सद्गुरु की शोध करता रहता है । वह योग/अवसर कव मिलेगा मुझे, मेरे सद्गुरु मुझे प्राप्त होंगे और मुझे मार्ग दिखायेंगे । **"काम एक आत्मार्थ नु,"** आत्मार्थी को दूसरा कोई काम नहीं, एक ही काम हे, यानि आत्मा के अर्थ को सिद्ध करना, तथा **"बीजो नहीं मन रोग,"** और मन मे दूसरा क्या नहीं है कोई रोग नहीं है । क्योंकि ये भी एक रोग है मन का, परमार्थ को छोड़ कर स्वार्थ मे आना, और स्वार्थ के लिए करना, क्योंकि आदमी मान/वडाई चाहता है,

लोकेषणा, कीर्ति चाहता है नाना प्रकार से । और तो क्या गुरुदेव से मनोकामना की पूर्ति चाहता है । उनकी सेवा/भक्ति/उपासना भी लौकेषणा की सिद्धि के लिए होती है, न कि पर्युपासना/कर्म निर्जरा के लिए, अज्ञान के नाश के लिए । तो बन्धुओ! श्रीमद् रायचन्द्र ने आत्मा-साधना का यह मार्ग बताया है, और जो शास्त्र सम्मत्त है । आगम मे तीन मनोरथो/जागरिका का उल्लेख है— "मै कब परिग्रह से मुक्त होऊँगा, आगार से अणगार कब बनूँगा और समाधि मरण को कब प्राप्त होऊँगा ।" आत्मार्थी का यही मनोरथ/चिन्तन/जागरण है । वह इनके लिए सदा चिन्तन/उच्चारण तथा अभ्यास करता रहता है और सद्गुरु की शोध करता है ताकि यह अवसर प्राप्त हो जाए । आगम के एक कथानक से स्पष्ट हो जाता है -*

हस्तीशीर्ष नगर के राजा अदीन शत्रु, राणी धारणी का राजकुमार 'सुबाहु' अपने माता-पिता की भॉति पुष्पकरण्डक उद्यान मे विराजित श्रमण भगवान महावीर के दर्शन करने गया । उनकी वन्दना की - धर्म-देशना सुनी । अनन्तर भगवान महावीर की पर्युपासना करते हुए विनय की— "भन्ते। अन्य राजा-राजेश्वर/सार्थवाह/श्रेष्ठी आदि की भॉति मै श्री चरणो मे मुडित होकर प्रव्रजित होकर गृहस्थ से साधुदीक्षा तो नहीं प्राप्त कर सकता किन्तु आपसे पॉच अणुव्रत/सात शिक्षाव्रत रूप १२ प्रकार के गृहस्थ धर्म को ग्रहण करूँगा ।"

प्रभु ने तत्काल उत्तर दिया - **"मा पडिबध करेह ।" शुभस्य शीघ्रम्** । शुभ कार्य मे विलम्व क्यो ? इस प्रकार सुबाहु कुमार भगवान के योग से जीवादि तत्वो का ज्ञाता हो गया और सद्गुरु की सेवा मे रत हो गया तथा पर्व तिथियो मे विशेष धर्माचरण करने लगा ।

वह सुबाहुकुमार चौदस/पूर्णमासी/अमावस्या आदि को अपनी पौषधशाला मे अष्टम भक्त /तेला पौषधोपवास किए हुए था

* सुख विपाक - सुवाहु कुमार - १/१

तव रात्रि के चतुर्थ प्रहर मे धर्म जागरण/चिन्तन करते हुए उसके मन मे ऐसा जागरण/चिन्ता/सकल्प/अध्यवसाय/विचार उत्पन्न हुआ कि– "वे ग्राम/नगर/सन्निवेश आदि धन्य है जहॉ श्रमण भगवान महावीर का विहरण हो रहा है और वे राजा/श्रेष्ठी आदि धन्य है जो उनसे धर्म सुनते है जो प्रभु के अन्तसेवी बन रहे हैं । अन्तेवासी हो रहे हैं । यदि श्रमण भगवान यहॉ/हस्तीशीर्ष नगर के पुष्पकरण्डक उद्यान के कृतवन मालप्रिय यक्षायतन मे पधारे तो मै उनके श्री चरणो मे मुडित/प्रव्रजित/ श्रामणी दीक्षा धारण कर लूॅगा । मुझे यह अनुपम अवसर मिले ।"

इस प्रकार धर्म जागरणा करते हुए यह सुविचारणा स्फुरित हुई और श्रमण भगवान ने सुबाहु के मन के अध्यवसायो/सकल्पो को जाना और हस्तीशीर्ष नगर पधारे । यथा सकल्प के अनुसार श्रमण भगवान से श्रामणी दीक्षा ग्रहण कर अपना अर्थ साधा ।

आज इतना ही, शेष कल पर.....

अन्तिममगल : अरिहंत मगल...। चत्तारि मंगल...।

मगलवार
६ सितवर '८८

१९, गुलाबसदन
बर्टन रोड, बोलारम
सिकन्द्राबाद १०

त्यां आत्मार्थ निवास : सैंतीस

कल	३५ से ३६ तीन पदों का पारायण हुआ, जिसमे आत्मार्थी के सद्गुरु–प्राप्ति का उपकार, तीन योग से आज्ञा पालन, तीनो काल मे परमार्थ मार्ग का लक्ष्य, परमार्थ प्रेरक व्यवहार करूँ ऐसा विचार करता हुआ सतगुरु की शोध करता है, जीवन मे मात्र आत्मार्थ है, दूसरा कोई मनोरोग नही है ।
आज	३९ से ४० पदों का पारायण, आत्मार्थी के लक्षण, सद्गुरु का सयोग और उनके अभाव मे तथा मोक्ष–मार्ग का न मिलना, फिर अन्तर्रोग कैसे मिट सकेगा ? आदि ।

मंगलाचरण . "त्रिभुवन पीडा हरण हार हो...।"
. "दुनिया के चराचर जीवो पर कर्मो ...।"

धर्मगीतिका . प्रभु दे प्यार दिया टेडिया ने गलिया...।

थुई : "दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाण, सच्चेसुवा...।"

ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान महावीर प्रभु की धर्म देशना ! आत्म स्वरूप को सर्व प्रथम समझने के लिए प्रेरणा देती है । जीवन का धरातल/सम्बल/स्वरूप आदि सब कुछ आत्मा ही है । जो आत्मा को छोडकर मात्र शरीर/इन्द्रियॉ/मन और उसके विषयो मे ही आसक्त हो जाता है अपनी दृष्टि को वहीं तक सीमित रखता है वह आत्मार्थी कैसा? आत्मार्थी तो आत्म तत्व को उपलब्ध करने तथा उसके स्वरूप मे स्थित होने का प्रयास करता रहता है । इसलिए श्रीमद् रायचन्द्र का यह आध्यात्मिक ग्रन्थ "आत्मसिद्धि" जिसका आपके सामने पारायण चल रहा है, और जिसके ३७ वे से ४२ वे पद तक आत्मार्थी का स्वरूप/लक्षणो का कथन है ।

मतार्थी मत के पीछे और आत्मार्थी आत्मा के पीछे रहता है । आत्मार्थी परमार्थ की ओर बढता है तो मतार्थी

मत/मजहब/सम्प्रदाय की तरफ बढता है । आत्मार्थी गुरु को, धर्म को स्वीकार करता हुआ आगे बढता है, और अन्तर मे चला जाता है यानि व्यवहार से वह निश्चय मे पहुँचता है। वह व्यवहार सम्मत क्रिया करता है जो परमार्थ की ओर क्या करता है, प्रेरित करता है, स्वय जाता है और दूसरो को भी उसकी/परमार्थ की तरफ ले जाता है ।

प्रश्न – बन्धुओ! एक बात ध्यान देने की है – आपने कभी ये सोचा होगा कि ये जो साधु लोग हैं या श्रावक लोग हैं, ये सामायिक/व्रत/नियम/तप आदि साधना करते हैं, इनसे समाज को/राष्ट्र को क्या लाभ है? आज यह एक बहुत बडा प्रश्न खडा है । हॉ, आप बोलाराम से बाहर निकलो जरा फिर आपको पता चलेगा कि कैसे-कैसे सवाल आज के वायुमडल मे घूम रहे हैं । और वे कहते है इसका अन्य व्यक्ति/समाज और देश को कोई लाभ नहीं है। आपने सामायिक की तो आपको लाभ हुआ होगा, इससे आपके घर को क्या लाभ हुआ, आपके समाज को क्या लाभ हुआ, देश को क्या लाभ हुआ ? ये तो आपकी धर्म क्रियाऍ हैं, आप अपने जीवन के लिए करते हैं, तो जीवन के लिए अन्य भी अपनी-अपनी सभी करते हैं । फिर इनकी विशेषता क्या है ?

उत्तर – लेकिन मैं आपको इसके बारे मे एक बात कह जाऊँ छोटीसी-, कल्पना करो कि, किसी के घर मे पॉच वेटे हैं, और एक बेटा शराबी कवाबी हो जाए, जुआरी हो जाये, एक वेटा नाना प्रकार के कुव्यसनों का, जैसे कि कहावत है **"छुट भलाई सारे गुण"** – एक भलाई नहीं है उसमे वाकी सव हैं तो ऐसा व्यक्ति घर मे पैदा हो गया तो वह क्या करेगा, बोलो सा'ब!

श्रेताओं मे से— वरबाद कर देगा ! क्या ठीक कह रहे हो ? विचार करो ! हॉ, आप ख्याल करो कभी भी कि एक लडका यदि घर मे ऐसा हो जाए तो पिता यह सोचता है कहॉ पैदा हो गया कुलकलकी यह 'कुलागार' कहॉ से पैदा हो गया, यह सारे घर को क्या करेगा नष्ट कर देगा। तो

अब ये सारे साधु जितने साधना मे लगे हैं, और जो लोग सामायिक/सध्या/माला/जाप/तप/जप/भजन – बन्दगी, और कुछ व्यसनो का त्याग करते हैं, बारह व्रतों को धारण करते हैं, या १ अहिसा २ सत्य ३ स्तेय ४ ब्रह्मचर्य ५ अपरिग्रह पॉचो को धारण करके चलते हैं, कुछ न कुछ नियम/मर्यादा/पच्चक्खाण करते है तो मै पूछूॅ उतने तो बिगडे कम रहें ना; कि नहीं । वे तो मर्यादा मे रहे और कुछ न कुछ परमार्थ आया मन मे, नहीं तो यदि सब बिगड जाये जितने इधर लगे हुए हैं, तो कितनो को नुकसान पहुॅचा ? एक लडका बिगडा हुआ सारे घर को हानि पहुॅचा सकता है, एक जाति मे पैदा हुआ व्यक्ति अपने दुष्कृत्यो से जाति को बदनाम करता है, दुख देता है, बदनाम करे यहॉ तक तो कोई बात नहीं मानसिक, आध्यात्मिक पीडा है, बोझ हैं लेकिन वह तो नुकसान करते हुए उन्हें तग करता है । वह मालूम नहीं कितनो का नुकसान करता है, बिगाडता है। एक विकृत मानस/ बिगडा आदमी अनेको को बिगाड देता है। लेकिन एक सुधर जाए और सभल जाये, तो कितना लाभ है उसका ? क्यो जी, तो फिर ये कैसे कहा जाये कि जो लोग धर्म–कर्म करते हैं वे अपने लिए करते हैं, उसका लाभ सबको होता है । हमे तो ये लोग स्वार्थी बतलाते हैं, कुछ बुद्धिजीवी जिनको धर्म–कर्म पर विश्वास नहीं और जो गहराई मे नहीं जाते हैं, वे लोग कहते हैं कि सा'ब आप धर्म–कर्म अपने लिए ही करते होगे, उससे समाज को क्या लाभ हुआ ?

अरे! भले मानस, यदि ये जो मन्दिर मे जाते हैं, स्थानक मे साधु–सन्तों के पास जाते हैं, जहॉ कहीं भी सत् पर चलते हैं, कुछ न कुछ वे बैलो/ऐबो/बुराईयो से बचते हैं, तो वे अपना भला तो करते ही हैं, लेकिन परोक्ष मे उससे घर/समाज/राष्ट्र का भला है । ये कैसे हो सकता है कि व्यक्ति जो भी क्रिया करता है उसका प्रभाव केवल व्यक्ति तक ही सीमित रहता है तो फिर कल्पों मे प्रभाव कहॉ तक पडेगा, तब तो दिशा मे प्रभाव होता है उसका, किसलिए ये

मान कर चलना कि सामायिक/व्रत/तपस्या तो अपने लिए है, मै कहता हूँ ठीक है उसका प्रतिफल, उद्देश्य है अपने को सुधारना, अपने कर्म की निर्जरा करना, दुःस्वभाव को बदलना, मन के कुविचारों को दूर करना/वाणी दोषों मे सयम बरतना/काया की गलत प्रवृत्तियाँ/हरकतों को क्या करना रोकना, उसके अपने जीवन के लिए है, लेकिन जव वह सुधरेगा, और वह मार्ग मे चलेगा, तो पता नहीं कितनों को मार्ग दे सकेगा और उनसे कितने व्यक्ति शान्ति प्राप्त कर सकेगे । इसलिए वह स्वार्थी नहीं है, उसको स्वार्थी नहीं कहना चाहिए, हाँ जो ढोंग करता है वह तो कहीं भी ठीक नहीं है, धर्म के मार्ग मे हो और चाहे कर्म के मार्ग मे हो, वह तो व्यवहारिक जीवन मे भी धोखेवाज होता है । लेकिन जो वस्तुत· साधना जीवन मे चलता है वह स्वय सुधरता है दूसरों को भी सुधारता है इसलिए दूसरे के भी सुख का कारण बनता है, दुख का कारण नहीं वनता । श्रीमद् ने आत्मार्थी के विशिष्ट लक्षणों का उल्लेख किया है–

"कषाय नी उपशान्तता, मात्र मोक्ष अभिलाष ।
भवे खेद प्राणी दया, त्यां आत्मार्थ निवास ॥३७॥

इस पद मे आत्मार्थी की सही परिभाषा और गुणों/लक्षणों का वर्णन किया है । 'उपशान्त कषाय, मात्र मोक्ष अभिलाषा, भव के प्रति खेद और प्राणी दया । जहॉ ऐसी मनः स्थिति होती है वहॉ आत्मार्थ रहता है ।'

"कषाय नी उपशान्तता" * : आत्मार्थी जीवात्मा के कषाय उपशान्त रहते हैं । अर्थात् उसमे तीव्र क्रोध/अहकार/छल–प्रकट/लोभ नहीं रहता । उसके जीवन मे, तीव्र कषाय नहीं रहता, इसका मतलव मद कषाय ही उपशान्त है । यहॉ उपशम शब्द का प्रयोग किया है, उपशम का अर्थ है शान्त हो जाना, दव जाना है । कषाय से अभिप्राय क्रोध–मान–माया–लोभ, इन

* कषाय के लिए देखें १ भाग का ३/ २ भाग का ३३ वा प्रवचन ।

चार मन के आवेगो /भावो से है । ये सक्लिष्ट परिणाम हैं। इनसे सक्लेश का जन्म होता है अत इनका उपशान्त /उपशम हो ज़ाना ही उचित है । इनके तीव्र रहते आत्मा की ओर दृष्टि ही नहीं जाती तो उसका अर्थ कहाँ ? किन्तु मतार्थी के ये कषाय उपशान्त नहीं होते, तीव्र होते हैं, जागृत होते हैं ।

"मात्र मोक्ष अभिलाष" : आत्मार्थी/के मन मे मोक्ष/बन्धनमुक्ति/कर्मक्षय के अतिरिक्त कोई इच्छा नहीं रहती । किसकी रहती है ? मात्र मोक्ष की । मोक्ष क्या है ? मोक्ष किसे कहना चाहिए, **"कृत्सन कर्मक्षयो मोक्षः"** किये हुए सम्पूर्ण कर्मो का सम्पूर्ण रूप मे सर्वदा के लिए, नष्ट हो जाना मोक्ष है । मोक्ष की अन्य शब्दों मे भी परिभाषाएँ हैं **"कषाय मुक्तिः किल मुक्तिरेव "** कषायो से मुक्त हो जाना/मनोविकारो और उनके कारणो क्रोधादि से मुक्त हो जाना/अपने मन को छुडा लेना । रूप और स्पर्श इनका मन मे रहना **"कामाना हृदये वासो संसार इति कीर्तितः"** – शब्द/गध/रस ही ससार है अन्यथा मुक्ति है । तो मात्र मोक्ष अभिलाषा आत्मार्थी के मन मे रहती है ।

भव–खेद तीसरा लक्षण है । आत्मार्थी के मन मे खेद रहता है । कैसा खेद ? ससार का खेद रहता है और कोई शारीरिक/मानसिक दु:ख/सताप/पीडा नहीं रहती । मात्र भाव/ससार अर्थात् जन्म–मरण/भव–भ्रमण, ससार मे प्राणी समूह को दु:ख भोगते देखकर – **"अहो दुक्खो हु ससारो "** की केवल एक अनुभूति रहती है, इसे दुःख कहें, पीडा कहें चाहे । यह खेद, व्यक्ति के वैराग्य का कारण है । क्योंकि यह अपने भौतिक सुख साधनों के अभाव की आकुलता–व्याकुलता नहीं है, प्राप्ति पर प्रतिकूलता के कारण दु:सयोग का दु:ख नहीं है । यह तो आत्मा की अनुभूति है कि "ये ससार मे रहने वाले जो जीव हैं, ये कषाय और विषय/वासना के कारण दु:ख भोग रहे हैं फिर भी ये अज्ञान–मोह मे भ्रमित होकर कुमार्ग की ओर ही गमन कर रहे हैं आदि । यही **"भव खेद"** है ।

"प्राणी दया" : आत्मार्थी के मन मे प्राणी मात्र के प्रति दयाभाव रहता है । दया-भाव क्या है ? दया भाव का अर्थ है – "जो मै चाहता हूँ वही सवके लिए चाहूँ, **'सर्वे भवन्तु सुखिनः' – 'सुखी रहें सब जीव जगत के'** इसी का नाम मूल मे 'दया है', और ऐसी जो दया है उसको 'धर्म' की सज्ञा दी है ।"

"दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान ।
तुलसी दया न छोड़िये, जब लग घट में प्राण ॥"

पजाव मे एक हिन्दी कवि हुए है, वे धर्म श्रावक थे उन्होंने कहा –

"करुणा जिन शासन मूल कही,
सब ही गुण आय मिलें दुरके ।"

करुणा/अनुकम्पा/दया जिन शासन की क्या है मूल है, जड़ है । यदि हृदय मे करुणा है तो वाकी समता-सन्तोष आदि ये सव गुण अपने आप चले आते हैं उसके जीवन मे । यदि करुणा नहीं है तो वाकी गुण कहाँ से आयेगे ? करुणा उसकी मूल है/जिन शासन की धर्म की मूल है । इसलिए कहा **"प्राणी-दया"** ।

"त्यां आत्मार्थ निवासः" जहाँ कपाय की उपशान्तता है, मात्र मन मे मोक्ष की अभिलाषा है, जहाँ भव के, जन्म-मरण ससार के प्रति खेद है, प्राणियों के प्रति दया है वहाँ आत्मार्थ का निवास है, वहीं पर ही आत्मतत्व के प्रति दृष्टि है/जिज्ञासा है तथा सर्व गतिविधि आत्म-तत्व के लिए ही करता है । और जहाँ ये गुण नहीं है वहाँ पर आत्मार्थ नहीं है, वहाँ केवल मतार्थ है वो ढ़ोंग करता है कि "मुझे मत वताओ । मैने तो सव कुछ छोड दिया, मेरा क्या है ? कोई घर/परिवार से मोह नहीं है, मेरा किसी मे कोई मोह नहीं है –" कहता है कोई मोह नहीं है, लेकिन मैने देखा है ऐसे आदमियों को भी, एक वार मैं किसी के घर चला गया तो देखा वडी-वड़ी लम्वी वहियाँ इधर-उधर विखरी पड़ी

थीं, मुनीम/लडके उसके पास बैठे हुए थे । लालाजी उसको चैक कर रहें है हिसाब को, हिसाब चैक करते-करते ही उसको गुस्सा आता है, और उधर 'कैश बुक' पडी है, अग्रेजी की एक लेजर पडी है, खाता पडा हुआ है, डबल-डबल रखे हैं, हॉ, वहॉ एक क्लर्क बैठा हुआ है, विचारा, एकाउटेन्ट वह उनको बताता है, अब वह लॉयब्लिटि और ऐसिस्ट/इधर प्रॉफिट/'लोस' और ज्यो-जयों वह सुनता है त्यों-त्यों उसकी त्योंरियॉ चढती हैं, क्रोध/रोष आता है । मै खडा-खडा पीछे देखता रहा वे मशरूफ थे सब काम करने मे और मै ज्योंही थोडा आगे बढा, देखकर बोल पडे-ओह ! महाराज पधार गये, मैने कहा शाह जी, क्या मतलब है इन सबसे आपका ? आपने तो सब कुछ छोड दिया/मोह छोड दिया/दुकान छोड दी । नहीं महाराज! मै तो कुछ नहीं करता सब सौंप दिया लडकों को । बन्धुओं! ये सबसे बडा कर्म/पाप की जड/बन्धन है एकाउॅन्ट । एकाउॅन्ट को जिसने नहीं छोडा, याद रखना उसने दुनिया भर की जड को पकड रक्खा है, उसने सारे मोह को पकड रक्खा है । ये दो चाबियॉ बान्धे फिरते हैं न बसी लाल जी! साथ मे । सुरक्षा के लिए चाबी होती है, ताला है, लेकिन वह सुरक्षा के लिए नहीं है वह तो अपने लिए है बान्ध के रखा हुआ है । कहॉ छोडा ? कहना बहुत आसान है लेकिन छोडना बहुत मुश्किल है ।

लेकिन जहॉ आत्मार्थ होता है वहॉ ये लक्षण बताये हैं उसके, और वहीं पर आत्मा के अर्थ का वास होता है । आत्मा के अर्थ का राज होता है यूॅ कहो, आत्मा अपने स्वगृह/अपने स्वरूप मे आयी है । और बाकी तो सब बराबर चलता ही रहता है । अब तो समय हो गया है हमारे भाई, बोलाराम वाले तो आ गये, उनका रोज़ का काम है, और रविवार को जो है, दूर-दूर से खैरतावाद, शमशेरगज आदि बडी दूर-दूर से आते हैं, बोलारम वालों का तो सदा का ही काम है अपना तो रोज का ही धन्धा है, हॉ, सात दिन मे छह दिन अपने और सातवॉ दिन इनका, क्योंकि

अपने तो सोमवार को भी कल आ सकते हैं ये तो कल आयेगे, तो जितने रोज आते हैं आज कम आयेगे ये कल आयेगे क्योंकि तातील है/अवकाश है । ज्यादा आयेगे, घर के, और ये दूर से आते हैं इनको साढे तीन बजे मैने कहा है, कि मै साढे तीन बजे समाप्त कर दूँगा तो ये आयेगे, जिससे इन्हें आसानी रहे, मातायें-बहिनों को भी आसानी रहे, क्योंकि कई एक रात्रि भोजन नहीं करते हैं उन्हें पुनः अपने घर लौट जाने को आसानी रहें, चतुर्विधाहार का त्याग करने मे कठिनाई न हो । (श्रोता-थोड़ी देर और कृपा हो ।)

बन्धुओं! इस प्रकार ये आत्मार्थी के तथा आत्मार्थ-वास के लक्षण हैं अथवा यूँ कहे कि आत्म-अर्थ साधना की यह पृष्ठ-भूमि है/धरातल है । बिना ये गुण आए सद्गुरु का योग और मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती । मार्ग नहीं तो साधना नहीं, साधना के अभाव मे अन्तःरोग/कषाय-वासनादि दूर नहीं हो सकते । इसलिए श्रीमद् कहते हैं-

"दशा न एवी ज्यां सुधी, जीव लहे नहीं जोग ।
मोक्ष मार्ग पामे नहीं, मिटे न अन्तर रोग ॥३९॥"

इस पद मे कहा गया है कि "जब तक यह योग्य दशा/कषाय की उपशान्तता, मोक्ष की अभिलाषा, भव-खेद, प्राणी दया आदि आत्म-अर्थ मे निवास नहीं तब तक उसे/व्यक्ति/आत्मा को मोक्षमार्ग उपलब्ध नहीं होगा और मोक्षमार्ग अर्थात् बन्धन से मुक्त होने के उपायों की प्राप्ति और फिर उस पर आचरण नहीं होगा तो अन्तर्रोग नहीं मिट सकेगा ।"

यहाँ तीन बातो पर ध्यान देना है— १ अवसर की उपलब्धि/काल लब्धि २ पात्रता/योग्यता, ३ मोक्ष मार्ग की प्राप्ति यानि साधनों का मिलना । यहाँ अन्तः साधनों से अभिप्राय है तथा इसका प्रतिफल है अन्तःरोगों का निरस्त हो जाना । नहीं तो हमे लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होगी । इसका सीधा-सा मतलब हुआ कि आत्मा की विभावदशा, किवा दुरात्मा की दुष्प्रवृत्ति का त्याग नहीं किया जायेगा तब तक

स्वभावदशा मे रमण कठिन है । केवल शरीर/इन्द्रिय और मन ही आत्मा को स्वभावावस्था मे लाने मे सक्षम नहीं हैं । श्रीमद् आगे के पद मे कहते हैं—

"आवे ज्या एवी दशा, सद्गुरु बोध सुहाय ।
ते बोधे सुविचारणा, त्यां प्रगटे सुखदाय ॥४०॥"

"अर्थात् जीवन मे जहॉ ऐसी यानि अठतीस वे पद मे आयी हुई बाते/ज्ञान/उपदेश/मार्गदर्शन अच्छा नहीं लगता/सुहाता नहीं । उपशान्त दशा मे ही बोध परिणाम वाला होता है वह शोभित होता है, सुहाता है तथा उस सद्बोध से सुखदायी सुविचारणा प्रकट होती है ।" इस पर तनिक विस्तार से विचार चर्चा कर लेवे – ।

इस पद मे कहा गया है **"आवे ज्यां ऐवी दशा सद्गुरु बोध सुहाय"** – सद्गुरु की शिक्षा, सद्गुरु के द्वारा बताया गया मार्ग, उनकी सीख किसको सुहाती है, किसको अच्छी लगती है, उसके लिए उन्होंने एक पृष्ठ भूमि बताई है। क्योकि आपने अक्सर देखा होगा किसी को क्रोध आया हो और उस समय उसके आगे हाथ जोडे, विनय करे/समझने की कोशिश करें, तो क्या होता है और अधिक बढता है । क्यों, आप तो शान्तिलाल हो, तो क्या कहा –

"चढ़ते पानी पैठते, तामस में अरदास ।
कच्चे ताप में औषधि, तीनों होत विनाश ॥"

पानी का बहाव चढ रहा हो किसी नदी/नाले मे और आदमी उसमे प्रवेश करें, तो क्या होगा, बह जायेगा और तमस/क्रोध चढ गया हो और उसमे आप अरदास करते हो – "नहीं, भाई नहीं, मत करो तो और ज्यादा चढता है । लेकिन यह भी सामने वाला व्यक्ति कमजोर होता है, एक बात मैं और कह जाऊॅ यह भी ध्यान देने वाली बात है, गुस्सा बहुत सयाना होता है, बडा समझदार होता है । वह कमजोर को देखकर ज्यादा बढता है, यदि सेर को सवा सेर मिल जाये तो शान्त हो जाता है । एक बाणिये का बेटा बहुत तेजतर्रार था । बाप को डराने के लिए "मै मरता हूँ,

मैं मरता हूँ' कहकर कोठे पर चला जाता जिसको मारवाडी में "डागला" कहते हैं, वहाँ जाकर मुंडेर पर खडा होकर कहता है, मैं छलाग लगाता हूँ, मै गिर के मरता हूँ, कभी दौड कर कुँए की माड पर चला जाए, मै तो कुँए मे गिर कर मरूँगा," कहता । विचारा पिता बहुत तग आ गया, रोज पकडा – धकडी–हाथा जोडी करता है, पकड कर लाता है उसको । वस, जो चाहता था उसे मिल जाता है । अव ये तो रोज का ही काम था, वहुत दुखी हो गया । दुकान के ऊपर एक जमींदार/जाट आता था, लाला को उदास वैठे हुए देखकर पूछा– लालाजी ! क्या वात है आज उदास क्यों हैं, कहता है – "क्या वताये रोज का ही घर मे क्लेश रहता है और लडका कहता है मैं मर जाऊँगा ।" – उपाय तो मैं वता देता हूँ किन्तु तुम्हारे से नहीं होगा, मेरे से होगा । अगर किसी वक्त वह जिद्द करे ऐसी, मुझे वुला लेना । —उसका तो रोज का ही काम था । हर दूसरे–चौथे दिन करता ही रहता था, जमींदार की कही वात याद आ गई और सन्देश भेजा उसको कि जल्दी आ जा भाई । वह दौडकर आया । इतने मे घर से निकल कर लडका कहाँ पहुँच गया, कुँए की माड पर, "मै तो गिरकर मरूँगा, तो अव पीछे वाप, माँ, भाई दौड़ते है, सव पकड़ते हैं उसको, किन्तु जमींदार आवाज लगाता है ठहरो–ठहरो! तगडा आदमी था, दिल से तगडा शरीर से भी तगडा पहुँच गया वहाँ पर और लड़के को पकड कर कहता है –"ले मरना है न तूने इसमें, ले मैं धक्का देता हूँ, शायद तू न गिर सके पूरी तरह, मैं धक्का देता हूँ तेरे को, वह कहता है नहीं, नहीं, तू गिरना चाहता है न, मरना चाहता है न, इसलिए मैं धक्का देता हूँ, पकड़कर उसको कुएँ में लटकाने लगा, नहीं नहीं! कहता है—"मैं तो अपने वाप को डराता था मरता थोडा ही था ।" "हाँ तो क्रोध भी वडा सयाना होता है । शरावी/मदिरापायी देखा है आपने कभी, शरावी रोड पर इधर–उधर रोज गली–कूचों मे वडके/चागरे मारते फिरते हैं, लेकिन अगर दो–चार सेवा करने वाले उसको मिल जाएँ तो पता नहीं लगता शराव गयी कहाँ, चली जाती है पता ही

नहीं लगता । क्यों है ऐसा, इनको कभी सोचा, जब तक उसकी पृष्ठ भूमि ठीक नहीं बन पायेगी, तब तक बात नहीं बनती । इसके लिए दो ही चीजे हैं । यहॉ पर श्रीमद् रायचन्द्र कहते हैं- **"सद्गुरु बोध सुहाय",** – बोध/ज्ञान ये सब तभी उसको सुहायेगे, जब उसका हृदय ठीक होगा । और यह बोध/उपदेश/ज्ञानादि बीज के समान है, किसान बीज बोता है, किन्तु बीज बोने से पहले धरती को उर्वरा बना लेता है, उसको जोतता है, बाहता है, दाना बाद मे डालता है, अगर उस धरती को बाहे/उर्वरा/कमाये बिना कितना ही बढिया बीज हो, बीज क्या हो जायेगा, नष्ट हो जायेगा, वह बीज प्रस्फुटित/पुष्पित और फलित नहीं होगा । बस, यह ही स्थिति है, हमारे द्वारा सुना/पढा/सीखा गया ज्ञान, गुरु द्वारा दिया गया ज्ञान, तब तक अच्छा नहीं लगता जब तक उसके लिए हमारे हृदय की भूमिका/मानस भूमि तैयार नहीं । श्रीमद् कहते हैं, **"आवे ज्यां ऐवी दशा",** – जिस मन की यह दशा बन गई हो, जिस मन मे ये बाते आ गई हों कौनसी बाते ? कषाय की उपशान्तता–क्रोध, मान, माया और लोभ, तीव्र न होकर मन्द अवस्था मे हो, किवा उपशम हो गए हों, मात्र मोक्ष अभिलाषा रही हो अन्य सर्व प्रकार इच्छाऍ समाप्त हो गई हों, मन की यह दूसरी अवस्था है, मन मे और किसी प्रकार की आशाये, इच्छाये/महत्वकाक्षाऍ न रहें, क्योंकि मन पता नहीं कितनी प्रकार की आशाऍ, इच्छाऍ सजोए बैठा है, और उसकी पूर्ति के लिए बराबर प्रयत्न करता है । जब मन मे तृष्णा, वाञ्छा, इच्छा, ऐन्द्रिक विषयों की तमन्नाऍ, वासनाऍ हो फिर वहॉ सद्विचार कैसे आयेगा ? जहॉ कुत्सित विचारों का बोलबोला हो वहॉ सुविचारणा कैसे आयेगी, इसलिए कहा–**"मात्र मोक्ष अभिलाष"**। अनुकूल प्रतिकूल/सयोग–वियोग/| चय–अपचय/ खिजा–बहार/ रोग– निर्बलता अन्य जीव जो जन्म आदि के निमित्त से अज्ञान/मोह के कारण दुख भोग रहे हैं, भटक रहें है उनको देखकर जीव के मन मे खेद आता है और उससे विराग भाव/वैराग्य उत्पन्न होता है । **"प्राणी दया"** प्राणी मात्र के प्रति मन मे दया का भाव रहता है तो कहते हैं **"तहौं आत्मार्थ निवास",**

वहाँ पर आत्मार्थ का निवास रहता है । ऐसी दशा जब मन की हो जाती है, तो 'सद्गुरु बोध सुहाय' जब तक ऐसी दशा नहीं होती मन की उस मन को सद्गुरु का बोध, सद्गुरु का ज्ञान, अच्छा नहीं लगेगा । कितना ही सुन्दर उपदेश क्यो न हो, कितनी ही अच्छी बात क्यों न कहे, कोई प्रभाव नहीं होता । एक मूग पत्थर होता है उसको घर के आगन मे रखा जाय मूसलाधार वर्षा पडे लेकिन उसके ऊपर पानी का कोई असर नहीं होता, उस मूग शैलिक की तरह जब मन /हृदय बन जाता है वहाँ बोध अन्तर मे नहीं पैठता । क्या कहा आगे, **"ते बोधे सुविचारणां त्यां प्रगटे सुखदाय"** – जब मन की ऐसी अवस्था बन जाती है, मन आत्मार्थी हो जाता है तो फिर उसमे विचारणा स्फुरित होती है क्योकि उस को बोध आता है, बोध से तत्व का ज्ञान होता है, वस्तु स्वरूप को समझता है, और जब वस्तु स्वरूप का ज्ञान होता है, उससे फिर विचारणा परिशुद्ध होती है और वह विचारणा "सुविचारणा" कहलाती है वह उत्पन्न होती है, अच्छी विचारणा पैदा होती है, यानि जब हम किसी वस्तु/पदार्थ को आँख से देखते हैं/कान से सुनते हैं, नाक से सूघते हैं/जिह्वा से चाखते हैं, – प्रथम पाचों इन्द्रियों से जब हम किसी वस्तु को ग्रहण करते हैं, और उसके बाद उसके पीछे मन जुडता है, जब उसके साथ मन आया तो मन क्या करेगा ? सोचेगा, मन का काम तो सोचना है, वर्गीकरण करना है । बस, यहीं कर्म बन्धन है, क्योकि मन मे राग या द्वेष की वृत्ति रहती है, तभी वर्गीकरण है । विभिन्न धर्म–स्वभाव/गुण वाली वस्तुओं के रहते हुए मन मे 'समता' वृत्ति रहती है तो कर्म का बन्ध नहीं । वृहदालोयणा मे पढते रहते हैं अपन कि "जो जिस पुद्गल की स्पर्शना है, वह निश्चित होगी हीं फिर उस पर ममता क्यो ? 'ममता' से कर्म बन्धन तो 'समता' से कर्म क्षय/कर्म बन्धन टूटते हैं –

"जो–जो पुद्गल–स्पर्शना, निश्चय फरसे सोय ।
ममता–समता भाव से, कर्म बन्ध–क्षय होय ॥"

बन्धुओं, ऐसा बोध सद्गुरु से वाचना रूप मे मिलता है और फिर जीवात्मा/व्यक्ति मन मे चिन्तन करता हुआ अनुभव प्राप्त करता है । यही अनुभव पुन· सुखदायी सुविचारणा उत्पन्न करता है ।

बस, आज इतना ही...!

अंतिममगल : चत्तारि मगलं..... अरिहता मंगलं .....

बुधवार
७ सितबर ८८

१९, गुलाबसदन,
बर्टन रोड, बोलारम १०
सिकन्द्राबाद

ज्यां प्रगटे सुविचारणा : अठतीस

कल.	आत्मार्थी के लक्षण–कपाय का उपशम होना आदि तथा इनके अभाव मे सद्गुरु का योग दुर्लभ, मोक्ष–मार्ग का न मिलना, इन तीनों के अभाव में अन्तर्रोग कैसे मिट सकता है ?
आज.	४१वे पद का पारायण, जिसमे सुविचारणा के प्रतिफलों का उल्लेख हुआ है — ज्ञान प्रकट होता है, ज्ञान से मोह का क्षय, मोह–क्षय से निर्वाण की सप्राप्ति होती है ।

उद्बोधन गीतिका : "कुछ नेककामकर ले दुनिया मे...।"

मंगलाचरण : "त्रिभुवन पीडा हरण हार हो...।"
"दुनिया के चराचर जीवों पर...!"

थुई "दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाण...।"

ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान महावीर का यह धर्म शासन जिसमे साधु–साध्वी/श्रावक और श्राविका अपने–अपने धर्म की आराधना/साधना मे सलग्न हैं । "आत्मसिद्धि" नामक ग्रन्थ का पारायण चल रहा है, अव तक ४0 पदों का पारायण हुआ है । व्यक्ति के जीवन के उत्थान और पतन मे/बनने और बिगड़ने मे विचारो का वहुत बडा हाथ है । कुत्सित/बुरे विचार जीवन पतन/सहार के कारण तथा प्रशस्त/शुभ विचार जीवन निर्माण/विकास के कारण होते हैं । एक शायर ने भी कहा है –

"गिरते हैं ख्याल तो, गिरता है आदमी ।
जिसने इसे संभाला, संभल गया ॥"

श्रीमद् ने सुविचारणा/कुविचारणा शब्दों का प्रयोग करते हुए उन्हें सुखदायी और दुखदायी कहा है । सुविचारणा का

आधार सद्गुरु प्रदत्त बोध है और उस बोध का धरातल कषायो आदि का शान्त हो जाना है । इस प्रकार कारण–कार्य माला है यहॉ । आगे पुन कहा है –

"ज्यां प्रगटे सुविचाणा, त्यां प्रगटे निज ज्ञान ।
ते ज्ञाने क्षय मोह थयी, पामे पद निरवाण ॥४१॥

श्रीमद् का कहना है कि – **"ज्या प्रगटे सुविचारणा, त्यां प्रगटे निज ज्ञान ।"** जहॉ सुविचारणा प्रगट होती है वहॉ 'निज ज्ञान' प्रगट होता है । सुविचारणा का मतलब क्या ? वस्तु को सम्यग् रूप से देखने की दृष्टि अथवा अन्तर्दृष्टि का शुद्ध होना । दृष्टि सम्यग् तो विचारणा सम्यग् और दृष्टि मिथ्या तो विचारणा भी मिथ्या । तो आत्मा की जो विचारणा है, मन के जो विचार हैं वे सम्यग् होने चाहिए । इसीलिए तो कहा है जहॉ सुविचारणा प्रगट होती है, वहॉ पर 'निजज्ञान' प्रगट होता है । 'निजज्ञान' का मतलब, अपना ज्ञान, अपने ज्ञान से अभिप्राय क्या ? जैन धर्म का ज्ञान, वैष्णव/शैव/बौद्ध/इस्लाम धर्म का ज्ञान होना नहीं है अपितु 'निजज्ञान' से 'आत्मज्ञान' 'स्व' अर्थ है–'मै क्या हूँ' । इसे समझने की जरूरत है । यह सबसे बडी एक गुझल है/उलझन है, ऐसा रहस्य है कि जिसकी जिज्ञासा व्यक्ति के मन मे बराबर बनी रहती है, कि "आत्मा क्या है ?" इसका अनुभव होना, देह से देही/शरीर और जीवात्मा/जड और चेतन इनकी पृथक्–२ अनुभूति होना ही निज ज्ञान है । पठित/श्रुत तथा वाचाज्ञान तो होता रहता है किन्तु इसकी अनुभूति को आत्मज्ञान कहते हैं । सुविचारणा इसकी पृष्ठभूमि है क्योकि वह शुद्ध अन्तर्दृष्टि है । यह ज्ञान की उत्पत्ति मे निमित्त है ।

अब प्रश्न उठता है कि आत्मज्ञान/निजज्ञान प्रकट होने पर उसका परिणाम/प्रतिफल क्या है ? **"जे ज्ञाने क्षय मोह थई"** निजज्ञान के प्रकट होने पर 'मोहक्षय' हो जाता है । क्योकि यह सब प्रपच का कारण कौन है, मोह है । यह सुख–दु ख, आकुलता–व्याकुलता आदि मानसिक यात्नाओ का कारण

मोह ही है । मोह आसक्ति रूप है । व्यक्ति को पदार्थो मे मूर्छित/व्यामोहित कर देता है । इस मोह के कारण ही व्यक्ति जीवन के अन्य पक्षो को देखता नहीं है, वह एक पक्ष मे आसक्त रहता है इसलिए ऐसे व्यक्ति को मोहान्ध कहा है । उसे दिखाई नही देता है क्योकि वह विवेक विकल होने से उसमे हेय और उपादेय का ज्ञान नही रहता। मोह की शक्ति वडी विचित्र है । यह आठ कर्मो मे सवसे बडा एव राजा कहलाता है । यह ग्रन्थि रूप है । इसकी पकड बडी मजवूत है । मोह अन्धेरे के समान है और ज्ञान प्रकाश रूप है । ये दोनो विपरीत अर्थवाले हैं, जहाँ अधेरा है वहॉ प्रकाश नही और जहॉ प्रकाश है वहॉ अधेरा नहीं, तो आत्मज्ञान जब प्रकट होता है तो मोह समाप्त हो जाता है । आगम मे प्रवचन है– "यदि तुम सर्व दु.ख को समूल नष्ट करना चाहते हो, उससे छुटकारा पाना चाहते हो तो एकान्त हित की बात सुनाता हूँ, एकाग्रचित से सुनो–"अज्ञान और मोह को दूर करो, ज्ञान का प्रकाश करो तथा राग द्वेष का क्षय करने से एकान्त/आत्यन्तिक सुख रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है ।""* श्रीमद् कहते है – **'जे ज्ञाने क्षय मोह थई – पामे पद निर्वाण ।"** ज्ञान से मोह–क्षय करके 'निर्वाण' को प्राप्त करता है । इसका सीधा अर्थ है मोह के क्षय/नाश हुए बिना निर्वाण की प्राप्ति नही होती । मोह 'परमशान्ति' में वाधक है । भगवान महावीर ने कहा है— "दर्शन/अन्त रुचि के विना ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के विना चरण–गुण/चरित्र नहीं तथा अगुणी/चारित्र्य के अभाव मे मोक्ष नहीं होता और मोक्ष हुए बिना निर्वाण नही मिलता ।"0

"न दंसणिस्स नाण, नाणेण विणा न हुंति चरण गुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥"

इस गाथा मे कारण–कार्य भावो द्वारा तत्व को स्पष्ट किया है कि वस्तु के सामान्य वोध और अन्त रुचि/सम्यग्दर्शन के

---

* उत्तराध्ययन सूत्र ३२/१–२ गा.
0 उत्तराध्ययन सूत्र २८/३० गा

बिना हुए ज्ञान/सम्यग्ज्ञान प्रकट नहीं होता । क्यो? इसलिए कि सम्यग्दृष्टि का और चरित्र का मूल बाधक कारण मोह है –सम्यक्त्व मोह/मिथ्यात्व मोह तथा कषाय मोह । सम्यक्त्व मोह चित्त/दृष्टि को चचल तथा कषाय मोह देश/सर्व चारित्र्य मे बाधक है । इससे ज्ञान और चरित्रगुण अवरुद्ध होता है तो कर्मनाश/क्षय नही, फिर मोक्ष और बिना मुक्त हुए 'निर्वाण' नहीं होता । अत विचारणा सम्यग् होगी, सुविचारणा होगी, मतलब अच्छे विचार होगे, उससे उच्चार और आचार भी सम्यग् होगा । बिना बोध के विचारणा 'सुविचारणा' नही हो सकती और सुविचारणा जहाँ आ गई, तो वहाँ मिथ्या–विचारणा / कुविचारणा यानि तत्व के विपरीत मिथ्या विचार समाप्त हो जाते हैं, वस्तु के प्रति मन मे रहने वाला अज्ञान है/अबोध है वह भी समाप्त हो गया और अब करने के लिए सम्यग् प्रवृत्ति होगी । क्योकि आदमी करने से पहले सोचता है, और जैसी सोच होती है वैसा बोलता है वैसा ही आदमी करने लगता है । इसलिए जब सुविचारणा आ गयी है, तो सद्गुरु द्वारा दिया गया जो बोध है, वह रग लाता है । इसलिए कहा, **"ते बोधे सुविचारण, त्या प्रगटे सुखदाय"**, वहॉ पर सिर्फ सुखदा सुविचारणा प्रगट होती है, सुविचारणा से सुखदायी प्रवृत्ति होती है, दुखदायी प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है । अभिप्राय है आदमी की सोच भली तो वाणी भी भली और करनी भी भली हो जाती है । वह कभी बुरा करने को तत्पर नहीं होगा, सन्मार्ग की ओर अग्रसर होगा असद्मार्ग को छोड देगा । लेकिन यह कब होगा ? उसकी पृष्ठ भूमि क्या है ? यही कि सबसे पहले आत्मार्थी होना जरूरी है, और मन आत्मानुकूल होगा । इसी बात को श्रीमद् ४१ वे पद मे और अधिक स्पष्ट करते हुए आत्मा की स्वरूपावस्था/निर्वाण की प्राप्ति का कारण मानते है । वे व्यवहार से निश्चय की प्राप्ति के लक्ष्य की ओर सकेत करते हैं–

"ज्यां प्रगटे सुविचारणा, त्या प्रगटे निज ज्ञान ।
जे ज्ञाने क्षय मोह थई, पामे पद निर्वाण ॥४१॥"

"ज्यां प्रगटे सुविचारणा"– जहाँ शुभ/प्रशस्त/सुविचार पैदा होता है/दान–शील–तप–भाव रूप मन होता है तो **'ते बोधे सुविचारणा'**, और उस बोध से सद्‌गुरु के बोध से सुविचारणा पैदा हुई, तो फिर **'त्यां प्रगटे निज ज्ञान'**, और वह सुविचार आदमी को क्या फल देती है, आदमी को कहाँ ले जाती है सुविचारणा, सुविचारणा आदमी को, अपने ज्ञान/स्वज्ञान की ओर ले जाती है । उससे निजज्ञान प्रगट होता है । इस ज्ञान का मतलब अपना ज्ञान "मै क्या हूँ", यह उसको अनुभूति होती है । हमारे से कोई पूछे तुम कौन हो, तो हम अपना नाम/जाति/धर्म/गोत्र/कुल बताते हैं, क्यों ? इसीलिए कि हम व्यवहार मे जी रहे हैं, जब तक शरीर है तब तक व्यवहार है । लेकिन जब इसमे और थोडा सूक्ष्म मे जाते हैं, गहराई मे उतरते हैं तो फिर वहाँ प्रश्न खडा होता है **"के अहं आसी ?"** मै कौन हूँ ?* जब ये सोचता है अत्मा,"मै कौन हूँ", जिसको 'निजज्ञान' होता है तो वही कहता है/अनुभव करता है **"सोऽहं"** मै कौन हूँ मै वह आत्मा हूँ जो ज्ञान/दर्शन/सुख/शक्ति रूप है ।× जब ये अध्यवसाय आते हैं, और तब ये उत्तर आता है आदमी के मन मे । हम अपने आप से पूछें कि "मैं कौन हूँ" तो हमारी दृष्टि तो वहीं तक सीमित रहती है "मैं साधु हूँ/मै मुनि हूँ/स्त्री हूँ/पुरुष हूँ/बाल–युवा–वृद्ध आदि हूँ ।" किन्तु महापुरुषों ने कहा है इस स्थूल देह से, जब हम बाहर से अन्तर की ओर जाते हैं तो आत्मज्ञान की उपलब्धि होती है, कि "मैं कौन हूँ मै आत्मा हूँ, मै ज्ञानमय/मै दर्शनमय/मै सुखमय/ मै अविनाशी हूँ/ मै अजर और अमर हूँ । मै रोग नहीं, मै शोक नहीं, मै दुख नहीं, मै सयोग नहीं, मै वियोग नहीं, मै आधि और व्याधि नहीं ।" ये जितने है सब 'परभाव' है, 'स्वभाव' नहीं हैं व्यक्ति/आत्मा के । ये मेरे अपने अर्थात् चेतन के गुण–धर्म नहीं है । ये किससे पैदा

---

* केऽय पुरिसे ? क च णए ?" आ. १/२/६॥८९

× एगो मे सासिओ अप्पा नाण–दसण–सजुओ ।
सेसा मे बाहिया भावा, सव्वे सजोग लक्खण ॥

हुए हैं सयोग से, और सयोग किसका है ? अविद्या/अज्ञान/कर्म का ! ये पुद्गुल का सयोग है, परिणाम है, उसका गुण-धर्म है। अज्ञान के कारण परगुण को निज-गुण-धर्म मान लेने से ही मेरे मे विकार आ गए हैं, इसलिए मै कहता हूँ 'मेरा' 'तेरा' लेकिन वस्तु का क्या नहीं है, ये मेरी-तेरी नहीं है, ऐसा निजज्ञान/आत्म ज्ञान प्रकट हो जाता है तो व्यक्ति सन्मार्ग की ओर बढता जाता है, वह मार्ग मे कभी भटकता नहीं, अपने लक्ष्य/गन्तव्य तक पहुँच जाता है ।

बन्धुओ! हमे कई बार गॉवो मे, आज भी कई आदमी मिलते हैं, जिनका नाम पूछने पर वे कहते हैं – "हमारा कोई नहीं है, नाम तो भगवान का है, हॉ इस शरीर को नाम दिया हुआ है –'रामचन्द्र' कह देते है आदि । देखिए। जो पूर्ण साक्षर भी नहीं है, वह व्यक्ति भी शाश्वत् तत्त्व/आत्मा-परमात्मा का नाम लेता है और शरीर को पृथक् मानता है । वह नाम को देह की सज्ञा मानता है, वास्तविक नाम/शाश्वत नाम तो आत्मा/परमात्मा का ही है । इसलिए श्रीमद् ने कहा है जहॉ सुविचारणा होती है – **"त्या प्रगटे निजज्ञान"** वहॉ 'स्वज्ञान' प्रकट होता है । जब तक आत्मा "मै और मेरा" इसमे उलझा रहता है, यह अहन्ता/ममता स्थिति है, तब तक ज्ञान नहीं, यानि सच्चा/वास्तविक/स्वज्ञान नही होता ।

भगवान महावीर ने कहा है –"ओ पुरुष! हे आत्मन्! अपने को पहचान, स्व को ग्रहण कर, इस प्रकार दु.खो से मुक्त हो जायेगा ।"* इससे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि आत्मज्ञान/निजज्ञान होने से व्यक्ति दु ख से मुक्त हो जाता है। इसके अभाव मे भ्रमित होकर सुख के लिए भटकता रहता है। सत बुल्लेशाह का अनुभव है कि "अपने आप को पहचाने बिना सुख की उपलब्धि नहीं हो सकती ।" अन्य कितने ही उपाय करें किन्तु अपने को पहचाने बिना सुख नहीं मिल सकता । यदि तुझे विश्वास नहीं तो अनुभवी/बुजुर्ग/सयाने व्यक्ति से प्रतीति कर ले पूछकर! तू स्वय ही अखण्ड-सुखरूप-चैतन्य है ।"

---

* पुरिसा। अत्ताण अभिणिगिज्झ, एव दुक्खा पमोक्खसि/आ १/३/३/१३

"अलिफ अपने आप नूं समझ पहला,
की है तेरड़ा रूप प्यारे ।
बाझो अपने आप दे सही कीत्ते,
पये विच विसूरदे दुख भारे ॥
होर लक्ख उपाव ना सुख होवसी,
पुच्छ देखले सयानडे जग सारे ।
सुख रूप अखण्ड–चैतन्य है तू,
'बुल्लेशाह' पुकार दे वेद चारे ॥"

(कल से महापर्व पर्युषण प्रारम्भ है, और यहाँ से ज्यादा दूर नहीं वहुत नजदीक ही है तो उस 'सुराणा–स्मृति भवन' के अन्दर कल का जो कार्यक्रम है; कल से लेकर और सम्वत्सरी तक और उसका अगला दिन भी 'क्षमापना' का दिन जो है, वह भी वहीं पर करने की वातचीत हुई थी, सदस्य बैठे थे, और उन सवके वीच मे यही तय हुआ था, तो कल का प्रोग्राम जो है मत्री जी वतायेगे और इसके साथ–साथ मेरा, तो यही कहना है कि भाईयो को अखण्ड जाप के लिए अपने को तैयार रखना चाहिए और वहिनों को भी, अखण्ड जाप केवल आठ दिन का है और उस के लिए अपने आपको तैयार रखना चाहिए ।)

बस, इन्हीं शब्दो के साथ.......!

अन्तिम मंगल : अरिहंत मगल.....! चत्तारिमंगलं.......!

गुरुवार
८ सितवर '८८

गुलाबसदन
१९ बर्टन रोड, बोलाराम–१०
सिकन्द्राबाद

...भाखुं षट्पद आहिं : उन्तालीस

कल	सुविचारणा के प्रतिफल पर चर्चा थी कि, सुविचारणा से ज्ञान, उससे मोह–क्षय, मोह क्षय से निर्वाण होता है ।
आज	४२ वे पद का पारायण, इसमे मोक्ष और उसके मार्ग/उपाय को समझाने के लिए गुरु–शिष्य सवाद के माध्यम से छह पदो का प्रतिपादन है ।

अब श्रीमद् गुरु–शिष्य–सवाद के माध्यम से छह पदों का ज्ञान कराते हैं । यह ज्ञान क्यो – किसलिए ? इसके लिए सुनिए –

"उपजे ते सुविचारणा, मोक्ष मार्ग समजाय ।
गुरु–शिष्य सवाद थी, भाखु षटपद आहि ॥४२॥"

– "जिससे यह श्रेष्ठ विचार दशा उत्पन्न हो और मोक्ष–मार्ग समझने मे आए, वे 'छह पद रूप' 'गुरु शिष्य सवाद' रूप मे (रचित) यहॉ कहता हूॅ ।"

इस पद मे छह पदो के प्रतिपादन के, कहने के दो कारण प्रस्तुत किए है—

एक– जिससे सुविचारणा/श्रेष्ठ विचारो की दशा उत्पन्न हो,

दो– मोक्ष–मार्ग को समझने के लिए, उसके सर्वांगीण ज्ञान के लिए ।

बन्धुओ! विचारणा और उसमे भी सुविचारणा की मनोदशा जीवन उन्नयन की पृष्ठ भूमि है । जिससे जीवन का विकास होता है । यह भवन की नींव के सदृश है जिस पर जीवन का उत्तग–प्रासाद ऊसारा जाता है । पाप की मनोवृत्ति कुविचारणा है । पुण्य–तप–त्याग/निवृत्ति परिणाम सुविचारणा है ।

ये छह पदो मे 'आत्मा' विचारणा का अधिष्ठान है, केन्द्र बिन्दु है । विचारणा से नित्य/सदा कर्म का बध और क्षय क्रम बना रहता है । आत्मा नित्य है तो उसके अध्यवसाय तथा पूर्व सस्कारो से सपृक्त मनोयोग जो वीर्य लब्धि का उपकार है, कर्म का सम्पादन होता है । कर्म है तो उसके तीव्र–मद फल और उसे भोगने मे भी विचारणा का महत्वपूर्ण भाग है । कुविचारणा फल/स्थिति/रस–अनुभाव मे वृद्धि कर देती है, प्रत्युत सुविचारणा से ह्रास हो जाता है ।* उस कर्म के फल–भोग/सवेदना मे भी विचारणा का हस्तक्षेप समता और ममता के रूप मे रहा हुआ है । समता से कर्म का क्षय है, तो ममता मे पुन बध है ।× इसी प्रकार समता/ सहिष्णुतासे बद्ध कर्म फल देकर सदा के लिए दूर हो जाते हैं, आत्मा मुक्त/स्वतत्र/स्वाधीन होकर अपने स्वरूप मे स्थित हो जाता है, यही मोक्ष है और उसका उपाय है । इस प्रकार सुविचारणा का जीवन मे महत्वपूर्ण स्थान है । इस सुविचारणा की उत्पत्ति, कुविचारणा की निवृत्ति के लिए इन छह पदो का प्रतिपादन किया है – **'उपजे ते सुविचारणा ।'**

दूसरा कारण : मोक्ष–मार्ग का ज्ञान कराने के लिए इसका/इस सवाद का प्रणयन है । मोक्ष की जिज्ञासा—मोक्ष क्या है, उसका उपाय कौनसा है, आदि तथा मोक्ष का प्रतिपक्षी बन्ध है, वह क्या है ? कर्म/राग–द्वेष, अज्ञान, ये बन्धक है । कर्म का बन्ध है, फल भी है, उसे कौन अनुभव करेगा ? जीवात्मा या जड! जीवात्मा कर्त्ता/भोक्ता है तो वर्तमान मे कर्म और उसका फल कर्ता/भोक्ता या पूर्व कृत कर्म का । यदि पूर्वकृत कर्म–सस्कार से है तो उन सस्कारो का कर्ता/सग्राहक को भी नित्य मानना होगा । पूर्व जन्म और पुनर्जन्म होगा तो आत्मा को शाश्वत/नित्य तथा कर्म के लिए उसे परिणामी भी स्वीकार करना होगा तभी

---

* उत्त. २९/२२

× 'ममता–समता भाव से कर्म बध–क्षय होय ।"

मोक्ष–मार्ग का ज्ञान समझ मे आ सकेगा – **"मोक्ष मार्ग समजाय ।"**

इस प्रकार इन आत्मादि षट्पदो का प्रतिपादन आत्मा/मन मे सुविचारणा की उत्पत्ति के लिए है । इसी ग्रन्थ के इससे पूर्व ३८ से ४१ पदो मे सुविचारणा की उत्पत्ति एव उसका प्रतिफल वर्णित हैं—

"आत्मार्थ—आत्महित अथवा स्वरूप स्थिति वहॉ है जहॉ जीवन मे कषाय उपशान्त हैं, मात्र मोक्ष की ही अभिलाषा हो, ससार से उदासीनता, अन्तर मे दयाभाव हो । जब तक ऐसी आत्मदशा नहीं होती, जीवात्मा /व्यक्ति को योगदशा की उपलब्धि नहीं हो सकती, इस योगावस्था के बिना मोक्ष का मार्ग प्राप्त नहीं होता और मार्ग के बिना, उपाय के बिना, आत्मभ्रान्ति/मिथ्यात्व/अनन्तदु ख के हेतु, कारण रूप रोग दूर नहीं हो सकता । तथा ऐसी दशा आए बिना, सद्‌गुरु का बोध भी भला नहीं लगता । आत्मार्थ दशा आने पर ही सद्‌गुरु का उपदेश/बोध/शिक्षा अच्छे लगते हैं, उस बोध से सुखद सुविचारणा प्रकट होती है । सुविचारणा से निजज्ञान/आत्मबोध प्राप्त होता है, जिस आत्मबोध से, ज्ञान से मोक्ष–कर्मक्षय होते हैं, मोह क्षय होता है तो निर्वाण प्राप्त कर लेता है ।"

इस प्रकार 'सुविचारणा' के आने पर ही मोक्ष–मार्ग का ज्ञान होता है । सुविचारणा और मोक्ष मार्ग के ज्ञान के लिए ही 'गुरु–शिष्य सवाद' का प्रणयन हुआ है ।

बस, आज इतना ही।

अन्तिममगल : अरिहंत मंगल...। चत्तारि मंगल...।

सोमवार
१९ सितम्बर '८८

गुलाब सदन
१९,बर्टन रोड, बोलारम–१०
सिकन्द्राबाद

षट् थानक संक्षेप मां : चालीस

कल	गुरु–शिष्य सवाद के माध्यम से छह पदों का प्रतिपादन मोक्षमार्ग के ज्ञान के लिए है, की चर्चा थी ।
आज.	४३ वे पद मे छह स्थान/पदों का परिचय तथा ४४ वे पद मे षट्पदों का प्रतिपादन आत्मा के ज्ञान के लिए है और ये ही षट्दर्शन हैं सक्षेप मे, उल्लेख है ।

मगलाचरण "त्रिभुवन पीडा हरणहार हो...।"
: "दुनिया के चराचर जीवों पर...।"

थुई "दाणाण सेट्ठ...।"

गीतिका . "हम तो उन सतो के हैं दास...।"

श्रमण भगवान महावीर का यह धर्म शासन, प्रभु ने अपनी धर्म प्रज्ञप्ति मे जीव–अजीव, पुण्य–पाप, आश्रव–सवर, बन्ध–निर्जरा और मोक्ष, इन नौ तत्त्वों का प्रतिपादन किया है, उनकी प्रतिष्ठा की है ।= इन तत्त्वों मे मुख्य दो तत्त्व हैं– जीव–अजीव । इनके आधार पर ही सृष्टि है । जीव और अजीव के अतिरिक्त तीसरी कोई वस्तु नहीं है । सभी अन्य द्रव्यो का अन्तर्भाव इन दो द्रव्यो मे ही हो जाता है । इस प्रकार यह लोक द्विविधात्मक–जीवात्मक–अजीवात्मक है ।+ आगम मे लोक स्थिति के बारे मे इन्द्रभूति जी गणधर/गौतम स्वामी जी के प्रश्न उत्तर मे इन्हीं दो तत्वो का उल्लेख करते हुए श्रमण भगवान ने प्रतिपादित किया है कि, "अजीव–जड़

= जीवऽजीवा य बन्धो य पुण्ण–पावाऽऽसवा तहा ।
सवरो निज्जरा मोक्खो सतेए तहिया नव ॥ – उत्तरा २८/१४

\+ जदत्थि ण लोगे तं सव्व दुपडोयार, तजहा–जीवच्चेव, अजीवच्चेव ।
– स्था. २/१/१ सूत्र

पदार्थ जीव के आधार पर रहे हुए हैं, और जीव(ससारी) कर्म के आधार पर रहे हुए हैं ।"0

इसे यूँ समझा जाय कि शरीरादि जितने जड पदार्थ है वे सब जीव के आधार पर ही है; उनका अपना स्वतत्र अस्तित्व नहीं है । पृथ्वी–जल–अग्नि–वायु–वनस्पति तथा द्वीन्द्रिय आदि शरीर सीप–शखादि जितने शरीर/कलेवर है ये सब जीव द्वारा ही उच्छृष्ट हैं ।

दूसरी ओर जीव सृष्टि मे आवागमन/जन्म–मरण, सुख–दुख सवेदना, देह धारण–विसर्जन/नाना शरीरादि पर्यायो मे परिभ्रमण का आधार 'कर्म' है । वह कर्म स्वयकृत है, परकृत नहीं है ।*

तत्वदृष्टि से "कर्म पुद्गुल रूप" है तथा "जीव ज्ञानरूप है", इन दोनों के मिश्रण से ही वैविध्य/वैचित्र्य उत्पन्न हुआ है, किन्तु दोनो के पृथक् हो जाने पर स्व–स्व–स्वरूप मे अवस्थित हो जाते हैं । इस बात को बताते हुए ही कहा है—

"कर्म पुद्गल रूप है, जीवरूप है ज्ञान ।
दो मिलकर बहुरूप है, बिछड़याँ पद निर्वाण ॥"
"जीव कर्म भिन्न–भिन्न करो, मनुष्य जन्म कुं पाय ।
ज्ञानातम वैराग्य से, धीरज–ध्यान जगाय ॥" '

श्रीमद् ने आत्म–सिद्धि ग्रन्थ मे गुरु और शिष्य के सवाद के माध्यम से इस "जीवात्मा" के बारे मे छह बातो की चर्चा की है कि –'आत्मा है, नित्य है, कर्म का कर्त्ता है, फल का भोक्ता है, मोक्ष है, और मोक्ष का उपाय है ।'

"आत्मा छे ते नित्य छे, छे कर्त्ता निज कर्म ।
छे भोक्ता, वली मोक्ष छे, मोक्ष उपाय सुधर्म ॥४३॥"

---

0 "अजीव जीव पइट्ठिया, जीवा कम्म पइट्ठिया ।
* ही १७/५, "अत्तकडे दुक्खे, नो परकडे ।"
', आत्म–परमात्म अग, ५–६

अर्थात् आत्मा है, वह नित्य है, निज/अपने कर्म का कर्त्ता है, कर्म फल का भोक्ता है/भोगने वाला है, उससे/कर्म से मोक्ष/छुटकारा है, उसका मोक्ष, मुक्त होने का उपाय 'सुधर्म' है यानि धर्म से मोक्ष होता है ।*

इस पद मे छह वातों की चर्चा की है । आओ, इस पर थोडा विचार कर ले – आत्म–तत्व को स्वीकार किए विना, आत्मा के अस्तित्व को माने विना उसका नित्यत्व/नित्यपना, कर्तृत्व/कर्त्तापन, भोक्तृत्व, कर्त्ता–भोक्ता, मोक्ष, उसका उपाय धर्म आदि का जीवन मे अस्तित्व ही नहीं रहता । यदि आत्मा को स्वीकार किया जाय, तो ये सव तत्व स्वतः ही अस्तित्व मे आते हैं । आत्म–तत्व को स्वीकार किए विना इनका कोई अर्थ नहीं रह जाता । किसका कर्त्ता, कौन कर्त्ता–भोक्ता/करने वाला–भोगने वाला हैं ? क्या नित्य है, क्या अनित्य है, ये प्रश्न खडे ही नहीं रहते । और मोक्ष है, तो मोक्ष को तभी स्वीकार करेंगे जव वन्धन को स्वीकार करेंगे, वन्धन को मानेगे तो मोक्ष को मानना पडेगा, और मोक्ष को स्वीकार करेंगे तो वन्धन को तोड़ने का कारण, उसको भी मानना पडेगा । सो ये सव तत्व किसके आधार पर हैं ? आत्म–तत्व के आधार पर हैं ।

आचाराग सूत्र मे श्रमण भगवान महावीर का प्रवचन है – **"से आयावाई, लोयावाई, कम्मावाई, किरियावाई"*** जो आत्मवादी है, जो आत्म तत्व को स्वीकार करके चलता है, जिसे आत्मा की अनुभूति हो गयी, वह लोकवादी भी होता है । 'लोक' का अर्थ प्राणी जगत है । जो अपने शरीर मे 'आत्मा'/जीव को अनुभव करता है वह अन्य शरीरस्थ आत्माओं को भी अनुभव करता है –**"सव्वभूयऽप्प भूयस्स सम्मं भूयाइं पासओ"**× सर्व भूतात्माओं को

---

* "अत्थि जिओ तह निच्चा, कत्ता–भोत्ता य पुण्ण–पावाण ।
अत्थि धुव निव्वाण, तदुवाओ अत्थि छट्ठाणेण ।"
— प्रव सार १४८/७४१ गा

* आचारग सूत्र २/२/५ सू.

× दश. ४/५ गा.

आत्मभूत–अपने समान मानता है, देखता है । **"आत्मवत् सर्व भूतेषु यो पश्यति ।"** श्रमण भगवान महावीर का प्रवचन है – कि 'अहिसा' के लिए यह अनिवार्य है कि पहले आत्मा का निषेध न करें, जो आत्मा का निषेध करता है वह लोक/अन्य प्राणियो का निषेध करता है, जो 'लोक' का निषेध करता है वह अपनी 'आत्मा' का निषेध करता है फलत. आत्मा का निषेध न करें, न ही लोक का निषेध करें ।

"नेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा, नेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा ।"
"जे अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा, से लोग अब्भाइक्खेज्जा ।"*

'लोक' का **"लुक्यतीति लोकः"** के अनुसार सामान्य अर्थ है दिखाई देने वाला ससार–मर्त्यलोक, तिर्यक्, देव लोक/ऊर्ध्व लोक, अधोलोक/नरक लोक/जब आत्मा को स्वीकार किया है तो उसके देह धारण और विसर्जन/जन्म–मरण के स्थान विशेष को भी मानना होगा, अर्थात् जहॉ जीवात्मा परिभ्रमण करता है वह लोक है । यहॉ स्थान विशेष से ही अभिप्राय है ।

आत्मवादी 'कर्मवादी' होता है । जन्म मरण, दुख–सुख, आधि–व्याधि, सयोग–वियोग, ऊर्ध्वगमन–अधोगमन,पाप–पुण्य आदि जीवन की ये अवस्थाएँ 'कर्म' के कारण ही है । ये वैचित्र्य का मूल कारण कर्म है । इसलिए उस कर्म को करने वाला आत्मा है अत· जो आत्मवादी है वह कर्मवादी होता है ।

कर्म क्या है ? मन–वाणी और शरीर द्वारा शुभ–अशुभ प्रवृत्ति/स्पन्दना का होना तथा क्रोध आदि सक्लेश–भावो से कार्य करना उससे आत्म प्रदशो पर कर्माणुओं का सग्रह होना कर्म है । उसका कालान्तर मे उस कर्म का जागृत होना कर्मफल का भोग है । किया हुआ व्यर्थ नहीं जाता वह फलवान होता है । आदमी के चाहने, न चाहने, मानने, न मानने से कोई अन्तर नहीं पडता ।

जो कर्मवादी है वह क्रियावादी होगा ही । क्योकि प्रत्येक कर्म का कोई न कोई कारण होता ही है, तथा कर्म

---

* आचाराग १/४/१ सूत्र

निष्पादन मे मन–वचन–काया/तीनो योग और कृत–कारित –अनुमति ये करण/करना, करवाना, समर्थन देना/निमित्त होते हैं। विना इनके कर्म निष्पन्न नहीं होता फलत प्रत्येक कर्म के लिए 'क्रिया' का होना अपेक्षित ही है। विना क्रिया के 'कर्म' नहीं वनता । अथवा इसे इस प्रकार मानकर चले कि कुछ भी करने से पहले आत्मा मे शुभ–अशुभ अध्यवसाय का उत्पन्न होना और तदनुसार करने का प्रयत्न मनादि योगो द्वारा होना ही 'क्रिया' है । अर्थात् 'कर्म' की पूर्व अवस्था ही क्रिया है ।

हॉ, तो मै कह रहा था कि, कर्म करने वाला 'आत्मा' ही है, इसके माध्यम/क्रिया के साधन हैं शरीर, इन्द्रियॉ मन तथा वाणी, अर्थात् इनसे क्रिया होती है, लेकिन मूल मे 'चेतना' जव तक इसके/जड पदार्थ/निर्जीव के साथ नहीं जुडेगी, तव तक जड कुछ करनेवाला नहीं है, इसलिए आत्म–तत्व को तो स्वीकार करना ही पडता है, चाहे वह किसी भी रूप मे किया गया है और किसी भी रूप मे करें । आत्मतत्व के विना कर्मवाद का कोई अर्थ नहीं । इसलिए कहा – "जो आत्मवादी होगा वह लोकवादी और वह कर्मवादी भी होगा ।" प्रभु महावीर कहते हैं – "जो एक को जान लेता है, वह अन्य दूसरो को/सवको जान लेता है ।" **"जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ ।"** एक कवि ने इसे इस प्रकार कहा है –

"जब आत्म पर विश्वास नहीं, परमात्मा पर कैसे लाओगे ।
यो ही संभ्रात बने रहकर, जग मे ठोकरें खाओगे ॥"

जव अपने पर ही भरोसा नहीं है तो फिर परमात्मा पर भरोसा कैसे आयेगा ? फिर सभ्रात/दिशा विमूढ की भाति इतस्तत ससार मे भटकते रहोगे । इसलिए आत्मा पर विश्वास होना अति आवश्यक है । आत्मा का अस्तित्व है तो वहॉ पर 'लोक' का अस्तित्व है, लोक है तो वहॉ कर्म का अस्तित्व है, कर्म है वहॉ क्रिया भी है ।

वन्धुओ! एक आत्म तत्व को जान लेने पर ही उसके देहधारण/विसर्जन क्रिया तथा उसके कारण/हेतु कर्म तथा उसके

फलभोग एव उससे सर्वथा निवृत्ति/विलग होना आदि तथ्यो का ज्ञान एव आचरण हो सकता है । क्योकि यह सब आत्मा/जीव द्वारा ही कृत है । बन्धन और मुक्ति भी आत्मा पर ही निर्भर है – **"बधणं पमोक्खं अज्झत्थेव ।"** आत्मा स्वय अपने द्वारा कर्मो की उदीरणा करता है, स्वय अपने द्वारा ही उनकी गर्हा–आलोचना करता है, और अपने द्वारा ही कर्मो का सवर–आश्रव निरोध करता है । * यहॉ पर आत्मा का पहले अधिष्ठान माना है, क्योकि–

"सिद्धा जैसो जीव है, जीव सोई सिद्ध होई ।
कर्म मैल को आन्तरो, बूझे बिरलो कोई ॥"

जीव कैसा है ? सिद्ध/परमात्मा जैसा. सिद्धि की उपलब्धि किसे होगी ? जीव को होगी, जीव के बिना तो सिद्धि/मोक्षावस्था नहीं मिल सकती, जड की तो सिद्धि जडवत् ही होगी, न जड को चाह/जिज्ञासा शका आदि होती है, और न उसको कोई 'सिद्धि' की बात आती है । जब उसके मन और चाह ही नहीं है, चिन्तन–मनन की शक्ति ही नही तो सिद्धि कैसी ? क्योकि वह तो अचेतन है । इसलिए कहा **"जीव सोई सिद्ध होय,"** जोत मे जोत कौन समाता है ? परमात्मा स्वरूप को कौन प्राप्त करता है ? जीव ही करता है । क्योकि जीव चेतना रूप है, जीव ज्ञान रूप है, दर्शन रूप है, सुखरूप और शक्ति रूप है । इसलिए वह उन पॉच बातो का अधिष्ठान, प्रतिष्ठा, आधार, अवस्थान/पर्याय जीव ही है अथवा उसके कारण ही है ।

यहॉ छ प्रश्नो के माध्यम से श्रीमद् ने आत्म तत्व की चर्चा की है कि 'आत्मा है,' ऐसा तुम विश्वास करो, विश्वास भी जोर–जबरदस्तीं से नहीं, अनुभव करो कि ' आत्मा है या नही है ।' अनुभव के लिए सर्व प्रथम शास्त्रो मे बताए गए लक्षणो तथा अनुभवो मे आए विवेचनो को पढ–सुनकर ज्ञान करो पुनश्च/फिर चिन्तन–मनन करो । इसलिए सब दर्शनो की उन्होने चर्चा करते हुए आत्म तत्त्व की सिद्धि की है ।

---

* भगवती १/२

गणधर गौतम स्वामी का आगमों मे कथन है कि –**"पण्णा समिक्खए धम्म, तत्तं, तत्त विणिच्छिय ।"** अर्थात् धर्मादि तत्व का निर्णय/निश्चय करना हो तो प्रज्ञा से समीक्षा करनी चाहिए ।

यह प्रज्ञा क्या है ? तर्कयुक्त वस्तु का विश्लेपण कर स्वरूप प्रकट करने वाली निर्मल/विशिष्ट बुद्धि/मति 'प्रज्ञा' है ।

शिष्य गुरु से प्रश्न करता है कि–

"वह शुद्धआत्मा कैसे ग्रहण किया जा सकता है ?"

आचार्य उत्तर देते हैं – "वह आत्मा प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण किया जाता है ।"**

अव इन छह पदों का सक्षेप मे परिचय करा दूँ आपको, विस्तार तो गुरु–शिष्य सवाद के पारायण मे आयेगा ही । श्रीमद् ने भी उन्हें/छह पदों को सम्यग्दर्शन के सर्वोत्कृष्ट स्थान कहा है –

"शुद्ध आत्म स्वरूप को प्राप्त किया है ऐसे ज्ञानि पुरुषो ने नीचे कहे वे छह पदो को सम्यग्दर्शन के निवास का सर्वोत्कृष्ट स्थान कहा है ।"

'सम्यक्त्व के ६७ वोलों मे उसके 'छह स्थान' ये ही कहें है । अर्थात् इन छह पदों को अन्तर्दृष्टि से स्वीकार करता है जो, वह सम्यक्तवी/सम्यग्दृष्टि व्यक्ति/आत्मा है * जीवादि तत्वों के विषय मे आगम भी ऐसा ही कहता है –

"तहियाण तु भावाणं, सब्भावे उवएसण ।
भावेण सद्दहंतस्स, सम्मतं त विहाहिय ॥"

अर्थात् "जीव–अजीव आदि तथ्य रूप (नव तत्वों के) अस्तित्व का निरूपण करना एव इसके अस्तित्व मे सद्भाव पूर्वक श्रद्धा रखना 'सम्यक्तव' कहलाता है ।"

** "किध सों घेप्पंदि अप्पा ? पण्णाए सो दुघेप्पॅदे अप्पा " समयसार ९/२९६ गा.

* उत्त. २८/१५

श्रीमद् रायचन्द्र के शब्दो का ही हिन्दी मे छह पदो का परिचय दे दूँ –

प्रथम पद : "आत्मा है" जैसे घट–पट आदि पदार्थ है वैसे ही 'आत्मा' भी है । अमुक गुण होने से जिस प्रकार घट–पटादि होने का प्रमाण है, उसी प्रकार स्व–पर प्रकाशक ऐसी चैतन्य–सत्ता का प्रत्यक्ष गुण जिसके विषय मे मिलते है जिसमे हैं—ऐसा आत्मा के होने का प्रमाण है ।"

दूसरा पद : "आत्म नित्य है", घट–पट आदि पदार्थ अमुक कालवर्ति है, आत्मा त्रिकालवर्ति है । घट–पट आदि/सयोग से निर्मित/सायोगिक पदार्थ है । आत्मा स्वाभाविक पदार्थ है, इसलिए कि उसकी उत्पत्ति के लिए कोई/किसी सयोग का अनुभव नहीं होता । किसी भी सयोगी द्रव्य से चेतन–सत्ता प्रकट होने योग्य नही है, इसलिए अनुत्पन्न है । असयोगी होने से अविनाशी है, क्योकि जिसकी किसी सयोग से उत्पत्ति न हो, उसका कोई/किसी मे 'लय' भी नहीं होता ।"

तीसरा पद : "आत्मा कर्त्ता है" सर्व पदार्थ क्रिया सम्पन्न है । कोई न कोई परिणाम क्रिया सहित ही सर्व पदार्थ देखने मे आते है । आत्मा भी क्रिया सपन्न है । क्रिया सपन्न है इसीलिए कर्त्ता है । वह कर्त्तापन त्रिविध श्री जिन ने विवेचन किया है । परमार्थ से स्वभाव परिणति 'निज स्वरूप का' कर्त्ता है । अनुपचरित (अनुभव मे आने योग्य, विशेष सबन्ध सहित) व्यवहार से वह आत्मा 'कर्म का कर्त्ता' है । उपचार से घर–नगर आदि का कर्त्ता है ।"

चौथा पद : *"आत्मा भोक्ता है"* जो–जो कोई क्रिया है वे–वे सब सफल है, निरर्थक नही । जो कोई भी करने मे आता है, उनका फल भोगने मे आए ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव है । विष खाने से विष का फल, शक्कर खाने से शक्कर का फल, अग्नि स्पर्श से वह अग्नि स्पर्श का फल, हिम को स्पर्श करने से हिम स्पर्श का फल हुए बिना जैसे नही रहता, वैसे ही कषायादि या अकषायादि जिस किसी परिणामो मे आत्मा

प्रवृत्त होता है, उसका फल भी होने योग्य ही है और वह होता है । उस क्रिया का आत्मा कर्त्ता होने से 'भोक्ता' है ।"

पाँचवाँ पद : "मोक्ष पद है", जो अनुपचरित-व्यवहार से जीव को कर्म का कर्त्तापन निरूपण किया है, कर्त्तापन होने से भोक्तापन निरूपण किया गया है । उन कर्म का दूर होना भी है, क्योकि प्रत्यक्ष कषायादि का तीव्रपन है, किन्तु उसके अनभ्यास से – उसके अपरिचय से, उसे उपराम करने से, उसका मदपना देखा जाता है । वह क्षीण होने योग्य दिखाई देता है – क्षीण हो सकता है । उन-उन वन्ध-भावों के क्षीण हो सकने योग्य होने से, उससे रहित ऐसा जो 'शुद्ध-आत्म-भाव' वह रूप "मोक्ष पद" है ।"

छठा पद : "उस मोक्ष का उपाय है," जो कभी कर्म बन्ध, मात्र हुआ करता है (यदि) ऐसा ही हो तो उसकी निवृत्ति किसी काल मे सभव नहीं होगी किन्तु कर्मबन्ध से विपरीत स्वभाव वाला ऐसा ज्ञान, दर्शन, समाधि वैराग्य, भक्त्यादि साधन प्रत्यक्ष है । जिस साधन द्वारा कर्म वध शिथिल होते हैं,-उपराम को प्राप्त होते हैं, क्षीण होते हैं; इसलिए ज्ञान-दर्शन-सयमादि मोक्ष-पद के उपाय हैं ।"

षट्पद्-महात्म्य श्रीमद् ने इन छह पदो का महात्म्य लिखा है, जो पठनीय है । वैसे एक पद मे भी उन्होंने कहा है –

"स्थानक पाच विचारी ने, छट्ठे वर्ते तेह ।
पामे स्थानक पाचमु, एमा नहीं सदेह ॥"0

अर्थात् आत्मा आदि पाच स्थानो पदो पर भली भाति विचार कर/निश्चय करके छहवे स्थान/मोक्ष-उपाय-सुधर्म/ को वर्ते यानि आचरण करे तो व्यक्ति पॉचवे स्थान/मोक्ष को प्राप्त करता है इसमे कोई सन्देह नहीं है ।

---

0 १४१ वॉ पद

श्रीमद् ने लिखा है –"श्री ज्ञानी पुरुषो ने सम्यदर्शन का मुख्य निवास भूत कहे गए ये छह पद यहॉ सक्षेप मे जणाए गए/बताए गए हैं । समीप मुक्ति गामी जीव को सहज विचार मे वह सप्रमाण होने योग्य है, – परम निश्चय रूप ज्ञान करने योग्य है, उसका सर्व विभाग मे विस्तार होकर उसका आत्मा मे विवेक होने योग्य है ।"

"ये छह पद अत्यन्त सन्देह रहित हैं, ऐसा परम पुरुषो ने निरूपण किया है । इन पदो का विवेक जीव को स्वरूप समझने के लिए कहा है । अनादि स्वप्न दशा से प्राप्त उत्पन्न हुआ ऐसा जीव का अहभाव–ममत्वभाव— उसके निवृत्त होने के लिए छह पदो की ज्ञानी पुरुषो ने देशना प्रकाशी है/दी है । उस स्वप्नदशा से रहित मात्र अपना स्वरूप है, इस प्रकार जीव परिणाम करे, तो सहज भाव मे वह जागृत हो सम्यग्दर्शन को प्राप्त हो जाता है सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुआ स्वभावरूप मोक्ष को प्राप्त करता है ।

कोई विनाशी, अशुद्ध तथा अन्य ऐसे भाव के प्रति जिसे/उसे हर्ष, शोक–सयोग उत्पन्न नहीं होते । उस विचार मे स्वस्वरूप मे ही शुद्धपन/शुद्धता, सम्पूर्णपन/सपूर्णता, अविनाशीपन/अविनाशित्व, अत्यन्त आनदपन, अन्तर रहित उसके अनुभव मे आते हैं । सर्व विभावपर्याय मे मात्र अपने अध्यास से एक्यता/एकरूपता (देह और आत्मा की) हुई है, उससे केवल अपना भिन्नपना/भिन्नत्व ही है, यह स्पष्ट–प्रत्यक्ष–अत्यन्त प्रत्यक्ष–अपरोक्ष उसको अनुभव होता है । विनाशी अथवा अन्य पदार्थ के सयोग के विषय मे उसे इष्ट–अनिष्टपन प्राप्त नहीं होता । जन्म, जरा, मरण, रोगादि बाधा रहित महात्म्य का स्थान ऐसा निज स्वरूप जानकर, वेदे, वह कृतार्थ हो जाता है ।

जिन–जिन पुरुषो को ये छह पद सप्रमाण ऐसे परमपुरुष के वचन से आत्मा का निश्चय हुआ है, उन–उन पुरुषो ने स्वरूप को प्राप्त किया है, आधि–व्याधि, उपाधि, सर्वसग रहित

हुए हैं, होते हैं तथा/और भविष्य काल मे भी वैसे ही होगे ।"* (३७२)

इस प्रकार श्रीमद् ने जिज्ञासु को लिखे पत्र मे "षट्पद तथा उसका माहत्म्य" सक्षेप मे लिखा है । एव इन छहपदों को षट्दर्शन की भी सज्ञा दी –

"षट् स्थानक संक्षेप मां, षट् दर्शन पण तेह;
समजावा परमार्थ ने, कह्यौं ज्ञानीए एह ॥४४॥

–" अर्थात् ये जो छह स्थानक या छह पद सक्षेप मे कहे हैं विचार करने से प्रतीत होगा कि छह दर्शन भी यही है । परमार्थ को समझाने के लिए/इन छह पदों को/ज्ञानी पुरुषों ने कहा है ।"

४३वे पद मे छह पदो के नाम–(आत्मा है, नित्य है, कर्म का कर्त्ता है, फल का भोक्ता है, मोक्ष है, मोक्ष का उपाय) दिए हैं ।

यहॉ इस पद मे दो वाते विशेष विचारणीय हैं,–

एक : परमार्थ को समझाने के लिए ।

दूसरे : यह छह पद षट्दर्शन भी हैं ।

यहॉ पुन जिज्ञासा होती है कि 'परमार्थ' और षट्दर्शन के वारे मे, कि ये क्या हैं ? आओ तनिक इस पर चर्चा कर ले – ।

परमार्थ— का शव्दार्थ है परम + अर्थ=सर्वोत्कृष्ट, आत्मा–परमात्मा, शाश्वत के लिए । इसे दो अन्य शव्दों के माध्यम से समझना सरल होगा—स्वार्थ, परार्थ । स्व+अर्थ =अपने लिए, अपने शरीर, इन्द्रियॉ, प्राण तथा भवन, वस्त्र आदि

* 'श्रीमद् रायचन्द्र,' गु स. आत्मसिद्धि शास्त्र पृष्ठ २४–२५

भौतिक पदार्थो की पूर्ति, सप्राप्ति की वृत्ति स्वार्थ है । पर+अर्थ= अपने से अतिरिक्त किसी अन्य के लिए अपनी वस्तु का समर्पण, सहयोग देना । बशर्ते उसमे अपना कोई स्वार्थ न हो, मात्र सहयोग मानवीय वृत्ति, अनुकम्पा भाव, कर्त्तव्य भाव से प्रेरित हो । अब तीसरा 'परमार्थ'–परम अर्थ के लिए अर्थात् इस जगत के क्रियाकलापो से भिन्न लोकोत्तर तत्त्व की सप्राप्ति के लिए जो किया जाय वह परमार्थ है । 'ज्ञानी पुरुषो' ने इस परमार्थ (तत्वो) को समझाने के लिए इन छह पदो की प्रतिष्ठा की है ।'स्वार्थ और परार्थ मे तो ससार उलझा हुआ है । परमार्थ/आत्म–परमात्म दृष्टि का आना ही दुर्लभ है, अत प्रतिपादन किया है–

"समजावा परमार्थ ने" कह्या ज्ञानीए एह ।"

षट्दर्शन : छह दर्शन । वेदान्त, जैन, बौद्ध, साख्य, न्याय और चार्वाक । प्रकारान्तर से साख्य, न्याय, वैशेषिक, मीमासा, बौद्ध, जैन, चार्वाक दर्शन । दर्शन शास्त्र के प्रतिष्ठापक मूलत दो भागो मे विभाजित हैं वैदिक–अवैदिक, फलत· दर्शन भी क्रमश दो भागो मे बटे हुए हैं । साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमासा और वेदान्त, ये वैदिक हैं ।

अवैदिक मे जैन, बौद्ध, चार्वाक । जो वेद के आश्रित हैं तथा वेद प्रतिपादित तत्वो एव उनके आधार पर ही पर्यालोचन किया गया है जिनमे वे दर्शन वेदान्त कहलाते है । वेद से भिन्न विचारधारा अर्थात् स्वतत्र रूप से तत्वो की प्रतिष्ठा/विश्लेषण वाले दर्शन अथवा युक्ति, तर्क आदि द्वारा प्रचलित मान्यताओ पर विचार करने वाले अवैदिक हैं । वस्तु को अनेक दृष्टि से देखने वाले दो वर्ग है । इनमे भी प्रत्यक्षवादी तथा परोक्ष–प्रत्यक्ष सभी पक्षो को स्वीकार कर चलने वाले । प्रत्यक्षवादी दर्शन मे प्रमुख है चार्वाक । यह इन्द्रिय–प्रत्यक्ष/दिखाई देने वाले, इन्द्रियग्राह्य तत्व को ही मानकर चलता है । इसकी मानयता मे परलोक/स्वर्ग–नरक, आत्मा,

कर्म, कर्मफल–भोग, पूर्व जन्म, पुनर्जन्म आदि कोई किसी का अस्तित्व नहीं है । मात्र दृष्ट जगत, पचभूतात्मक शरीर/देह ही सर्वस्व है ।

प्रत्यक्ष–परोक्ष, अनुमान–आगमादि को प्रमाण मानकर चलनेवाले दो दर्शन हैं– जैन और वौद्ध ।

श्रीमद् ने पट्पदों को 'पट्दर्शन' भी कहा –**"पट्दर्शनपण तेह"** – इसका तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि इन छह पदों के स्वरूप ज्ञान मे 'पट्दर्शन' का ज्ञान/वोध हो जाता है। क्योंकि 'आत्मा है', इस पद के ज्ञान के लिए धरती पर प्रचलित सभी दृष्टिकोणों को जानना आवश्यक है, पुनश्च शुद्धस्वरूप का निश्चय/धारणा हो सकती है, अन्यथा नहीं । जैसे वैदिक दर्शनों मे सभी ने जीव/आत्मा/पुरुप/चिन्मय/चेतन आदि विभिन्न नामो/सज्ञाओं से अभिहत 'आत्म तत्व' को स्वीकार किया है । किन्तु साख्य ने पुरुप/आत्मा को नित्य मानते हुए भी कूटस्थ माना है, परिणामी नित्य नहीं । कर्म कर्त्ता आत्मा नहीं, वन्ध–मोक्ष आत्मा को नहीं, कर्त्ता–भोक्ता, वन्ध–मोक्ष त्रिगुणात्मक प्रकृति को है । पुरुप और प्रकृति का सम्वध अनादि है, किन्तु ज्ञान से इस सम्वन्ध का अन्त होने पर पुरुप 'शुद्धचैतन्य' हो जाता है । इस प्रकार वध–मोक्ष और उसका उपाय 'ज्ञान' को भी स्वीकार किया है । यहाँ सक्षेप मे मैंने वात रखी है आपके सामने । क्योंकि छह पदों के प्रश्न–उत्तरों मे विस्तार पूर्वक चर्चा है ही ।

वन्धुओं! इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन से इन छह/पदों का ज्ञान तथा पट्दर्शनों का परिचय प्राप्त हो जाता है । गुरु–शिष्य के सवाद मे भी एक–एक पद पर शिष्य ने शका उठाई है वह इन्हीं पट्दर्शनों के दृष्टिकोणों के आधार पर ही है । उत्तर मे गुरुदेव ने जैन दर्शन के आधार पर

समन्वय कर सर्वांग स्वरूप की प्रतिपादना करते हुए समाधान प्रस्तुत किया है फलत षट्दर्शन ही है ।

आज इतना ही।

अन्तिममंगलः अरिहंत मंगलं...। चत्तारि मंगल...।

मगलवार
२०, सितबर '८८

गुलाबसदन
१९ बर्टन रोड, बोलाराम–१०
सिकन्द्राबाद
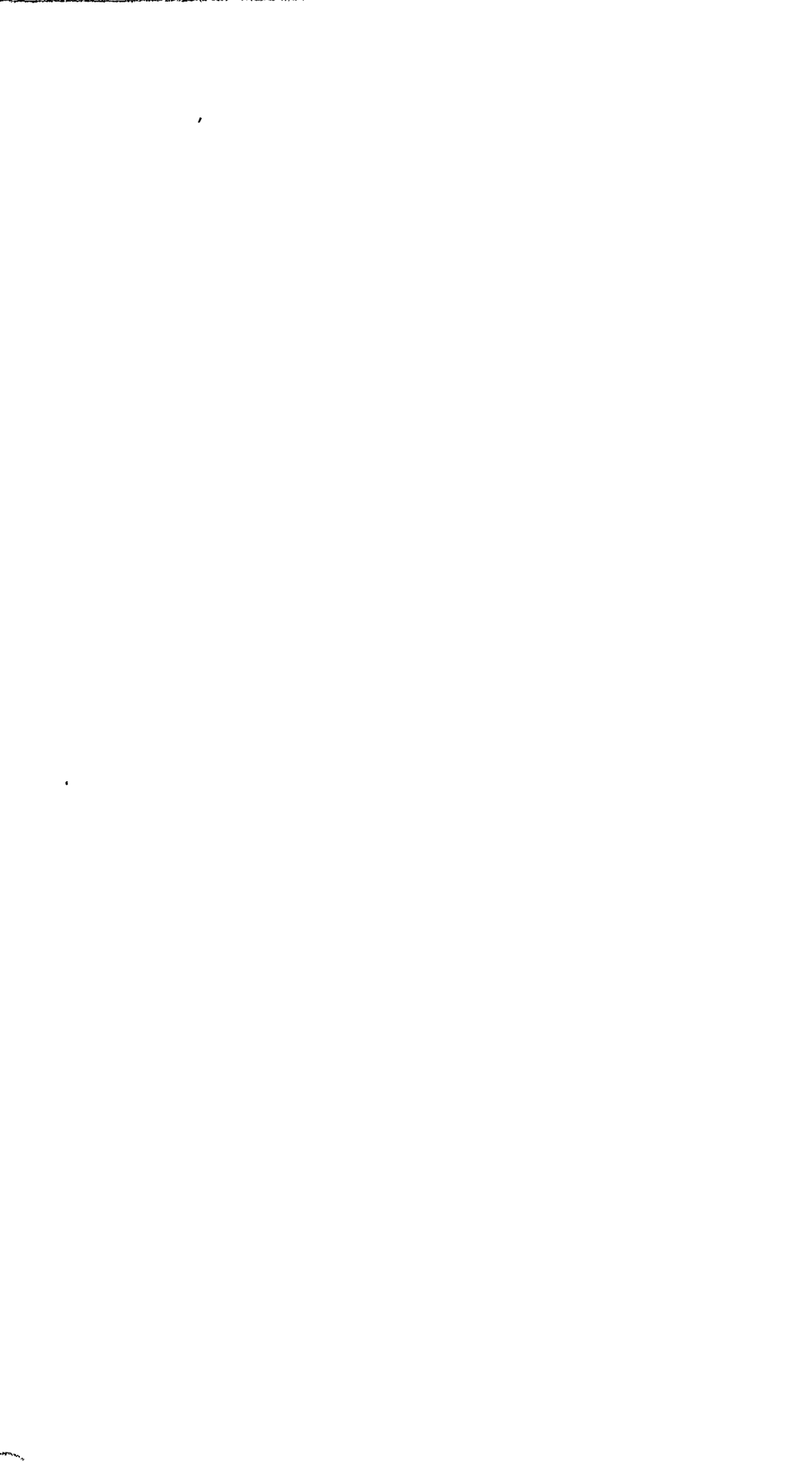
प्रथम पद

"आत्मा छे"

शं
का
|
स
मा
धा
न

१४ पद

⋮

४५ से ४८ पद
४९ से ५८ पद

श्रीमद्रायचन्द्र

"नथी दृष्टि मा आवतो, नथी जणातु रूप ।
वीजो पण अनुभव नहीं, तेथी न जीव स्वरूप ॥"

•

"अथवा दहेज आतमा, अथवा इन्द्रियप्राण ।
मिथ्या जूदो मानवो, नहीं जूदु एंधाण ॥"

•

वली जो आत्मा होय तो, जणाय ते नहि केम ?
जणाय जो ते होय तो, घट पट आदि जेम ॥"

— श्रीमद्रायचन्द्र

४५ से ४८ पद

तेथी न जीव स्वरूप : शंका

मगंलाचरण त्रिभुवन पीडाहरणहार हो.....!

: दुनिया के चराचर जीवो पर कर्मो ने.....!

गीतिका · जपले जपले वीर प्यारा....!

थुई · दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाण.....!

श्रीमद् ने गुरु–शिष्य सवाद के माध्यम से 'आत्मा छे' आत्मा है; कहकर उसकी प्रतिष्ठा की । किन्तु इस धरती पर प्रत्येक पदार्थ/वस्तु–तत्व को देखने–जानने का प्रत्येक का अपना–अपना दृष्टिकोण है, नजरिया है । वस्तु एक ही स्वरूप वाली होती है, दर्शक/ज्ञाता की दृष्टि भिन्न–भिन्न होती है । यही कारण है मूल स्वरूप को अपने–अपने दृष्टिकोण से देखने/समझने के कारण ही उसकी विभिन्न व्याख्याएँ, मान्यताएँ प्रचलित हो गई तथा मत–मतान्तर स्थापित हो गए और तदनुसार जीवन व्यवहार (सासारिक–आध्यात्मिक) होने लगा । साथ ही अपने–अपने पक्ष को सत्य सिद्ध करने का आग्रह होने के कारण वैमनस्य भी उत्पन्न हो गया फलत· एक दूसरे को घृणा–द्वेष की दृष्टि से देखने लगे । सत्य को, वास्तविकता को समझने का प्रयास कम हो गया और अपनी मान्यता को थोपने का अधिक प्रयत्न होने लगा ।

तत्वत हम विचार करें तो किसी भी वस्तु का पूर्णस्वरूप ज्ञात होना सरल भी नहीं है । क्योकि वस्तु ज्ञान के लिए सर्व प्रथम बुद्धि का यथार्थ/सम्यग् तथा 'पडा' होना आवश्यक है । मति द्वारा ही व्यक्ति वस्तु स्वरूप को ग्रहण करता है । तथा मति, स्मृति, चिन्ता, अभिनिबोध आदि सब ज्ञान की ही अवस्थाएँ है । और ये निरावरण अथवा आवरण के क्षयोपशम होने पर ही अर्थात् ज्ञानावरण कर्म का जिस अनुपात मे मन्द–तीव्र क्षयोपशम हुआ है उसी अनुपात मे

बुद्धि वस्तु को ग्रहण करती है । विभिन्न मतभेदो का, बुद्धि के प्रकारो का कारण यही है ।

इसीलिए कहा भी है – **"बुद्धि कर्मानुसारिणी"** कर्म के अनुसार बुद्धि होती है तथा बुद्धि के अनुसार तत्व का ग्रहण होता है । परिणामतः वस्तु ज्ञान, ग्रहण, मान्यता मे वैविध्य होना स्वाभाविक है ।

बन्धुओ। इस आत्म तत्व का स्वीकार तो सभी दर्शनो ने किया है, एक, दो को छोडकर, किन्तु स्वरूप भेद अधिक हैं, अतएव उनका सामञ्जस्य, तालमेल बिठाना अति कठिन है। समीचीन ज्ञान उसका अलभ्य नहीं तो दुर्लभ अवश्य है ।

दूसरी बात, किसी स्थूल, मूर्त्त वस्तु का देखना/समझना सरल रहता है, सूक्ष्म, सूक्ष्म–सूक्ष्म, 'परमाणु' पुद्गल और अमूर्त्त द्रव्यो का ज्ञान करना/देखना अति दुष्कर है । क्योकि इन्द्रियॉ आदि प्राणशक्तियॉ भी उसे अमूर्त्त होने के कारण ग्रहण नहीं कर पातीं और इनकी देखने–सुनने आदि की शक्तियॉ भी सीमित ही है । फलत 'अदृष्ट/परोक्ष/अमूर्त्त तत्व हैं,' ऐसा विश्वास आना हर व्यक्ति के लिए कठिन है तथा उसका प्रत्यक्षीकरण करके दिखाना भी दुष्कर है । यह अनुभव का विषय होते हुए भी प्रथमावस्था मे उसका युक्ति, तर्क से जानकारी प्राप्त करना अनिवार्य है । भले ही अतीन्द्रिय हो, अनिन्द्रिय हो इन्द्रिय गोचर न हो किन्तु अनुभव का प्रयत्न करना ही चाहिए ।

यहॉ शिष्य ने भी गुरुदेव द्वारा "आत्मा छे" की आज्ञा को/प्रवचन के प्रति आस्था के रहते हुए भी 'शका' का उल्लेख करते हुए कहा– **"ए अन्तर शका तणो, समझाओ सदुपाय ।"** अर्थात् "मेरे मन मे शका है मेरे शकाकुल अन्तर को सद्उपाय/भली प्रकार से समझाइए ।"

'शका' का उत्पन्न होना कोई बडी बात नहीं है और बुरी बात भी नहीं है । क्योकि व्यक्ति छद्मस्थ/अल्पज्ञ है । वह

सभी वस्तुओं तथा सर्वांशो/सर्वांगो/ सर्वधर्मो, गुण स्वभावो को नहीं जान पाता अत प्रतिपाद्य अथवा व्याख्यायित अर्थ के प्रति शका का उठना सहज है । इसे हमारे यहॉ बुरे अर्थ मे यानि अनास्था, अश्रद्धा, मिथ्यात्व आदि अर्थो मे रूढ कर दिया है, किन्तु सर्वथा ऐसा नहीं होता इसे जिज्ञासा, वस्तु को जानने की इच्छा–अर्थ मे लेना चाहिए क्योकि यह प्रथमावस्था है तत्वज्ञान के लिए । मन की शका का समाधान होना ही चाहिए, बिना समाधान के मन सशयशील बन जायेगा । बहुत काल तक समाधान न मिलने पर तत्व के प्रति असतोष उत्पन्न हो जाता है, वह असतोष ही कालान्तर मे अनास्था के रूप मे बदल जाता है, वस्तु को नकार देता है या विपरीत/विपर्यय रूप मे देखता है । आस्था के अभाव मे जीवन व्यवहार भी तो तदनुरूप हो जाता है । इसीलिए कहा गया है – **'सशयात्मा विनश्यति'** एव **'संका समत्त नासइ'**। शका सम्यक्तव/सम्यग्दर्शन का नाश करती है । किन्तु जिज्ञासा/पठित या श्रुत के उपरान्त विचार, मनन मे जो 'क्यो', 'क्या', 'कैसे' का उपापोह है उसे तत्व पर अनास्था कहना न्याय नहीं है । वह तो वस्तु को समझने के लिए है और उसके लिए "समीक्षा" की बात कही है कि, तत्व को समीक्षा पूर्वक समीक्षा से समझने का प्रयत्न करो – **"पण्णा समिक्खए धम्म, तत्त तत्त विणिच्छिय ।"** तो इसके लिए 'प्रश्न–प्रतिप्रश्न' करने होगे ही, तभी अर्थज्ञान और निश्चित होगा, वस्तु स्वरूप विशुद्ध होगा तथा वस्तु के प्रति रही जानने की इच्छा/उत्कण्ठा समाप्त हो जायेगी । आगम मे इसे 'काक्षामोह' की सज्ञा दी है ।* प्रश्न–प्रतिप्रश्न/पृच्छना–प्रतिपृच्छना को स्वाध्याय के प्रकार मे रखा है, तथा स्वाध्याय से ज्ञानावरण कर्म का क्षय/नाश होता है ।=

बन्धुओ! निष्कर्ष यह है कहने का कि किसी भी अदृष्ट वस्तु के प्रति शका का उत्पन्न होना अनुचित नही अल्पज्ञ के

---

* उत्त. २९/२२ प्रश्न–उत्तर
= स्था ५/४६५

लिए । किन्तु उसके लिए समाधान, शका का निवारण करना आवश्यक है । शिष्य ने भी गुरुदेव के समक्ष अपने अन्तर को खोला है । उसने षट्पदो मे पहले पद 'आत्मा छे' को जानना चाहा है । इसलिए गुरुदेव से शिष्य प्रश्न करता है, जिज्ञासा प्रकट करता हुआ कहता है –

"नथी दृष्टि मां आवतो, नथी जणा तुं रूप ।
बीजो पण अनुभव नहीं, तेथी न जीव स्वरूप ॥४५॥"

–"जीव/आत्मा दृष्टि मे/नेत्रो द्वारा दिखाई नहीं देता, इसलिए इसका रूप/शक्ल–सूरत का ज्ञान नहीं होता कि कैसी आकृति वाला है, और दूसरा भी अनुभव यानि चक्षुरिन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य श्रोत्र/घ्राण–नासिका–रसना–स्पर्शनेन्द्रियो द्वारा भी शब्द–गन्ध–रस और स्पर्श गुण द्वारा भी अनुभव नहीं होता, यानि बोलने से, सूघने से, स्वाद से तथा छूने से आत्मा का अनुभव नहीं होता, इसलिए जीव का अस्तित्व नहीं है अर्थात् जीव नहीं है ।"

यहॉ तीन बाते विचारणीय है–

१. आत्मा का दृष्टिगोचर नहीं होना ।

२. श्रोत्र आदि अन्य इन्द्रियो से भी स्वरूप ग्रहण न होना ।

३. इन कारणो से जीव का अस्तित्व नहीं होना ।

आओ, इस पर तनिक विस्तार से चर्चा–वार्ता कर ले–

इस पद मे कहा गया है कि, इन्द्रियो द्वारा जीव का ग्रहण नहीं है, इसका मतलब, जीव की कोई सत्ता/कोई एगजिसटेन्स नहीं है, यानि पृथक् कोई सत्ता नहीं है । क्यों नहीं ? इसलिए कि **"नथी दृष्टि मां आवतो"** वह नजर मे नहीं आता/ऑखो से दिखाई नहीं देता इसलिए जीव नहीं है । और **"नथी जणातु रूप"**, और जीव का रूप भी मालूम नहीं होता । क्योकि रूप/आकृति/शक्लो–सूरत होगी तो ही उसको कौन देखेगी,ऑख देखेगी, है न मूर्त जो है ।

वर्ण/रूप/रग किसका विषय है, ऑख का है । सबसे पहले, नेत्र शक्ल को,. काला, हरा, लाल, पीला आदि सब वर्णो को आखिर कौन ग्रहण करता है, नेत्र ग्रहण करेंगे, चक्षुइन्द्रिय ग्रहण करेगी, किन्तु उसका/आत्मा का रूप भी कोई दिखाई नहीं देता । इन्द्रियॉ मूर्त्त को ग्रहण करती है । मूर्त्त शब्द को कान ग्रहण करते हैं, गध मूर्त्त है तो उसको नासिका ग्रहण करती है, यदि रस मूर्त्त है तो उसको जिह्वा अपने ढग से ग्रहण करती है और मूर्त्त को ही स्पर्शनइन्द्रिय ग्रहण करती है ।

"बीजुं पण अनुभव नहीं"—आत्मा/जीव का ग्रहण किसी दूसरे उपाय से-यानि स्पर्शन आदि से भी अनुभव नहीं होता। क्योकि चक्षुरिन्द्रिय/ऑख के अतिरिक्त अन्य चार इन्द्रियॉ भी 'अमूर्त्त' के कारण ग्रहण नही करती । जहॉ ऑख काम नहीं करती वहॉ श्रोत्र/कान, घ्राण/नाक, रसना आदि वस्तु के शब्द/ध्वनि, गध, रस तथा हल्का-भारी, गर्म-ठडा, कोमल-कठोर, आदि स्पर्श को ग्रहण करके ज्ञान कराती हैं । किन्तु तभी यह सभव है जब ये तत्व हो । इनका तो वहॉ अभाव है ।

यह मूर्त्त/रूपी क्या है ? जिसमे वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-गुण हो, वह रूपी/मूर्त्त ही होता है । हमारे पहचानने मे सर्व प्रथम मददगार रूप/आकृति होते हैं । उदाहरण के रूप मे - क्यो ? बसी लाल जी, पहचान कैसे करते हैं ? यह मेरा पोता है, पोती है । पहचान के लिए शक्ल ही है न, बहुत सीधी सी बात है कि जब हमारे सामने शक्ल आती है, तो पहचान लेते हैं यह पौत्र है, यह पौत्री है, यह दोहित्र हैं, यह दोहित्रि है, ये अमुक-अमुक हैं आदि 'मूर्त्त' हैं सामने तो पहचाना जाता है, और यदि मूर्त्त नहीं तो क्या पहचान सकते है ? उसको, कौन पहचानता है, केवल ज्ञानी ही पहचान सकता है, अथवा किसी विशिष्टज्ञानी के वश की वात है, छद्मस्थ के वश की बात नहीं । क्योकि मन एव इन्द्रियो की सहायता से ही हम रूपी वस्तु को ग्रहण करते है । किन्तु जो अमूर्त्त हैं, उसे अपन नहीं पहचानते ।

अमूर्त्त का अर्थ है जिसमे वर्ण, गध, रस, स्पर्श नहीं है, अरूपी द्रव्य/पदार्थ । जब वर्ण–गध–रस–स्पर्श नहीं है जिसमे तो इन्द्रियॉ कैसे ग्रहण करेंगी ? इन्द्रिया तो तभी देखेगी, सुनेगी, चाखेगी, छू करके ज्ञान करेंगी; जब उसमे उसका विषय हो । नहीं तो क्या पता लगेगा इन सबका ? फलत. कहा है— **"तेथी न जीव स्वरूप"** । यह शिष्य की जिज्ञासा है, यह उसका तर्क है ।

अब शिष्य गुरुदेव से आत्मा/जीव के स्वतत्र अस्तित्व के न होने का दूसरा तर्क प्रस्तुत करता है –

"अथवा देहज आत्मा, अथवा इन्द्रिय–प्राण ।
मिथ्या जूदो मानवो, नही जूदुँ एँधाण ॥४६॥"

–"अथवा जो देह/शरीर है वही आत्मा है, या जो ऑख–नाक आदि इन्द्रियॉ है तथा मनादि, श्वासोच्छ्‌वासादि प्राण ही आत्मा है । आत्मा को इनसे पृथक्/जुदा मानना मिथ्या है क्योंकि उसके लिए ऐसा कोई भिन्न एधाण/लक्षण, चिह्न नहीं है जिससे आत्मा के पृथक् अस्तित्व का ज्ञान हो ।"

इस पद मे शिष्य द्वारा चार बाते प्रस्तुत की है –

एक · देह ही आत्मा है ।
दो इन्द्रिया या प्राण ही आत्मा है ।
तीन पृथक् अस्तित्व मानना मिथ्या है ।
चार पृथक्/भिन्न चिह्न/लक्षण नहीं है ।

एक : शिष्य कहता है कि,**"देह ही आत्मा है ।"** यह जो हमारी देह है, शरीर है इसको ही आत्मा कहना चाहिए यही आत्मा है अथवा **इन्द्रिया–प्राण ही आत्मा हैं,** अन्य कुछ नहीं क्योकि – **"बीजोपण अनुभव नहीं, तेथी न जीव स्वरूप"** – जो दृष्टि मे नहीं आता, जिसका रूप जाना नहीं जाता और अन्य जो इन्द्रियॉ है उनसे भी आत्मा का कोई अनुभव नहीं हुआ । चलो, ऑख ने तो नही देखा, कान तो सुनकर पता लगाता है, नासिका सूघ कर बताती है,

रसना रसास्वादन करके बताती, स्पर्शन इन्द्रिय छूकर बताती है जिस प्रकार वायु का स्पर्श से ज्ञान हो जाता है, किन्तु ऐसा भी नहीं होता है । इसलिए मै कहता हूँ कि जीव का कोई स्वरूप नहीं है, जीव का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है । शिष्य दूसरी बात कहता है – या यू कहना चाहिए कि शरीर ही आत्मा है, जीव इससे कोई पृथक् नहीं है, शरीर से कोई अलग नहीं है ।

दो : "अथवा इन्द्रिय प्राण" – इन्द्रियॉ—ऑख, नाक, कान आदि जो इन्द्रियॉ हैं यह ही आत्मा है, क्योकि इनमे देखने आदि की शक्ति है, अत आत्मा मान लेना चाहिए । **प्राण** : प्राण ही आत्मा है ।

प्राण क्या हैं ? इन्द्रियबल प्राण, योग बल प्राण, श्वासोच्छ्वास, आयुष्यबल प्राण । ये शक्ति रूप है, जिसके आधार पर जीव क्या करता है, जीता है – **"प्राणति जीवतीति प्राणः"** और **"विप्पओगे भण्णए मरण"** – जिसके वियोग हो जाने पर जीव मर जाता है । ऐसी सज्ञा वाले जो प्राण हैं वे ही आत्मा है ।

तीन : "मिथ्या जूदो मानवो" देह/इन्द्रिय/प्राण से भिन्न, यानि आत्मा को पृथक् मानना यह मिथ्या है, गलत है । क्योकि यदि आत्मा इनसे पृथक् होता तो अवश्य मालूम होता, उसकी प्रतीति होती किन्तु

चार : "नहि जूदु ऍधाणः" इन देह, इन्द्रिय, प्राण से भिन्न अन्य कोई चिह्न/लक्षण दिखाई नहीं देता, जिसके आधार पर कहा जा सके कि यह आत्मा है । क्योकि 'लक्ष्य' का ज्ञान लक्षण/चिह्न से ही होता है । आत्मा का पृथक् होना, ऐसा कोई चिह्न प्रतीत नहीं होता । फलत आत्मा/शरीर/इन्द्रिय/प्राण से भिन्न नहीं है ।

शिष्य ने गुरुदेव से पुन अपनी शका/जिज्ञासा के कारण को प्रकट/स्पष्ट करते हुए कहा कि –

***"वली जो आत्मा होय तो जणाय ते नहीं केम ?
जणाय जो ते होय तो, घट-पट आदि जेम ॥४७॥"***

–"गुरुदेव! यदि जो आत्मा होता तो वह ज्ञात क्यों नहीं होता ? जानने मे क्यों नहीं आता ? जाना तो तव जाय जव वह हो अर्थात् उसका अस्तित्व हो, जिस प्रकार घट-पट आदि अन्य पदार्थों का ज्ञान होता है, जाने जाते हैं ।"

वन्धुओं, शिष्य ने अपने मन की जिज्ञासा को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि – "जैसे घट और पट का पता चलता है, इसी तरह से आत्मा का भी पता लगना चाहिए, उसका भी ज्ञान होना चाहिए न!"

आप समझ रहे हैं न वात को, वैसे देखा जाए, विचार किया जाए तो यह साधना-जीवन का पहला पाठ है, प्राईमरी क्लॉसिज का लैसन है । क्योंकि सवसे पहले अपने को 'आत्मा' को जानना चाहिए – "मै क्या हूँ आत्मा क्या है ? इसका अनुभव कव होता है साधना के मार्ग पर चलते रहने और सदा मन को चिन्तनशील रखकर उसकी अनुभूति के लिए प्रयास करने से । तव आत्मा का अनुभव होता है अन्यथा तो शास्त्र/ग्रन्थों मे पठित और गुरुदेवों से श्रुत/सुना हुआ उसके आधार पर हमारी एक श्रद्धा वनी हुई है कि,'आत्मा' है । और उस श्रद्धा से हम कहते हैं कि यह 'आस्तिक' है । और कोई व्यक्ति जो हमारी वात को नहीं मानता तो हम कहते हैं 'नास्तिक' है ।

मूलतः ये आस्तिक और नास्तिक किस आधार पर हैं, क्या यह पढ़ा और सुना ही आधार है या कुछ वास्तविकता है, सच्चाई है ? वास्तविकता है, किन्तु अनुभव होने पर ही अनुभूति होती है उसकी । आस्तिक का अर्थ है आस्तिक्य है जिसमे । **"अस्तिमतिर्यस्य स आस्तिकः"** । जिसकी मति मे यह है कि –"आत्मा है, पुण्य है, पाप है, स्वर्ग है, नरक है, इह लोक है, परलोक है," यानि जिसकी मति यह स्वीकार करती है, "है" इनका अस्तित्व है, वह आस्तिक होता

है । और नास्तिक कौन होता है—जिसकी मति मे नही है, **"नास्तिमतिर्यस्य स नास्तिकः ।"** जो यह कहता है, "नहीं है", कुछ नहीं है, गपोडे हैं, ढोग है, लोगो को भरमाने के लिए क्या बना रखे हैं ये ढग बना रखे हैं ।" ऐसा जो बोलते हैं क्योकि उसकी मति स्वीकार नही करती उसको—"नहीं है" । तो इसका मतलब यह हुआ कि किसी तत्त्व को आपकी मति स्वीकार न करें, मेरी मति स्वीकार न करे, किसी अन्य की मति स्वीकार न करे तो वह चीज/पदार्थ/वस्तु/तत्व है ही नहीं, क्यो जी, कल को नालायक पोता कह दे कि "मेरे दादा था ही नही," (श्रोता मे हसी) कोई खास बात नहीं है । आप इसको मजाक/विनोद समझेगे, किन्तु मेरी जिन्दगी मे मैने अपनी ऑखो से देखा है दो भाईयो को, परिवार को, परम्परा–एक दादा की और एक दादा के भाई की । सम्पत्ति/जायदाद इकट्ठी,साझी । अक्सर पहले बटवारो मे विभाजन के कोई कागज हुआ नही करते थे, विश्वास होता था और उसी के आधार पर कि ये तुम्हारा और इधर का हमारा, बस, ठीक है । ये तुम ले लो ये हम ले लेते है । इसी प्रकार से ही काम चलता रहता था । लेकिन अब जायदादो की कीमत बढ गयी, हर चीज मूल्यवान हो गयी, तो लोभ आता है, क्योकि **"जहा लाहो तहा लोहो,"** जहॉ लाभ होता है तो वहॉ लोभ आ ही जाता है । मुकदमा कर दिया उसने, कि हमारा कोई अभी तक बटवारा नही हुआ, इतने वर्षो से ये हमारी जायदाद साझी चली आ रही है, कोर्ट मे दरख्वास्त दे दी उसने कि इसका विभाजन होना चाहिए । केस चलता रहा । मैने देखा बहुत धर्मात्मा लोग, तप–जप करनेवाला, नाना प्रकार के शारीरिक कष्ट उठानेवाले, साधु सन्तो की सेवा–भक्ति, दुनिया भर का धार्मिक प्रपच करने वाले व्यक्ति ने कोर्ट मे बयान/स्टेटमैन्ट दिया कि जिसने दवा किया है, और ये जो 'सजरा' इसने पेश किया है, मतलब "कुलपरम्परा" जो प्रस्तुत की है, ये तो हमारे खानदान मे ही नहीं है ।" बोलो। उसने मुझे आकर कहा – "कि देखो महाराज, कितना झूठ कितना तूफान।" एक धर्माचरण करने वाला आदमी बोल

सकता है क्या ?... मैने कहा, 'विश्वास नहीं आता,' उसने वकील को मेरे सामने किया, पूछो वकील साहब से स्टेटमेट दिया कि नहीं दिया । वकील कहता है महाराज! दिया है । मैने कहा – तुम तो भई, इसके वकील हो इसलिये कहोगे, मै उससे ही पूछ लेता हूँ उसने कहा कि नहीं कहा । मैने उससे पूछा कि "आपने ये स्टेटमेन्ट दिया, और हालॉकी वह आपका भतीजा/भाई का लडका ही है, तो आपने कैसे स्टेटमेन्ट दे दिया ! बोला, महाराज ये हमारे सासारिक जीवो के काम हैं, आप बीच मे क्यो आते हैं ?" बताईएगा, खाते अलग-अलग है, झूठ बोलने के खाते अलग हैं, सच बोलने के खाते अलग हैं, कम तोलने के अलग हैं, मापने के अलग है, अमानत मे खयानत करने के अलग, खाते वहुत बना रखे है, और धर्म स्थान मे बैठकर धर्म करने का खाता अलग है । तो क्या है ये ? बडा मजाक होता है जब हम जीवन के व्यवहार मे धर्म को नहीं लाते और हमारे व्यवहार मे जब धर्म नहीं उतरता, व्यवहार मे से जब बदबू आती है तो दूसरों को भी धर्म के प्रति नफरत हो जाती है कि इस धर्म ने इनको क्या सिखाया, और धर्म ने इनके ऊपर क्या प्रभाव डाला है ? तो नतीजा क्या निकला, "मैने वकील को बुलाया वह भी मेरे बहुत निकट था, मैने उसको बुलाया, कहता है – "महाराज जी कोर्ट मे ऐसा ही चलता है ।" और उसने ही कहा कि बाटकर तो देना ही पडेगा, आखिर तो यह सच्चाई है क्योंकि कोई प्रूफ/प्रमाण नहीं है बटवारे का लेकिन जितना टाईम निकल जाये उतना अच्छा है, और जब मुकद्दमा बहुत लम्बा हो जाता है आदमी परेशान हो जाता है जब आदमी परेशान होता है तो कहता है जितना मिलता है चलो, ले लो – **"सारा जाता देख के आधा लीजे बॉट,"** अक्लमंद आदमी की तो यही बात होती है ।

इस तरह से आप देखेगे कि आदमी की मति कहॉ से कहॉ पहॅुचती हैं । नास्तिक भी "होते हुये" भी कहता है "नहीं है"। हमारे न मानने से वस्तु का अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता । यदि हम यह **नहीं माने–** कि "आत्मा नहीं है,"

तो इसका मतलब आत्मा खत्म हो जायेगा ? क्यो जी ? मैने आप को उदाहरण दिया कि पौत्र–दोहित्र ने अपना 'दादा/पितामह', 'नाना' नहीं देखा तो दोहित्र कहता है कि मेरे नाना नहीं था, उसके कहने से 'नाना' नहीं होगा क्या? दादा नहीं होगा क्या? दादा तो दादा ही रहेगा, नाना, नाना ही रहेगा वह भले ही स्वीकार न करें । वह कहता है कहॉ है बताओ ? अब कहाँ से लेकर आओगे उसको ? कहॉ बताये उसको ? प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं, हर चीज़ प्रत्यक्ष नहीं होती । ऐसी सूक्ष्म वस्तुएँ/ऐसे सूक्ष्म तत्त्व लोक मे हैं जो हमे नजर नहीं आते लेकिन हम उसका अनुभव करते हैं। और कभी–परोक्ष प्रमाण से करते है । परोक्ष प्रमाण क्या है ? आगम प्रमाण है । महापुरुषो ने, ज्ञानियो ने देखा, अपनी ज्ञान शक्ति से ज्ञान मे जाना जो आगम मे उल्लिखित है, तो हम आगम/शास्त्र को प्रमाण मानते हैं । उसमे जो कथन है वह सत्य है । फिर अनुमान प्रमाण है, हम अन्दाजा लगाते हैं, क्या यह हो सकता है? ऐसा हो सकता है ? आदि । क्योकि उसके लिए कुछ साधन, घटना, हेतु, दृष्टान्त सामने आने से तथ्य का ज्ञान हो जाता है । जैसे कि – **"यत्र धूमस्तत्राग्नि"** जहॉ धूऑ है वहॉ अग्नि है । यह अनुमान प्रमाण है, क्योंकि धूऑ देखा तो अग्नि का होना, उसकी सभावना हुई । अनुमान लग गया कि यहॉ पर अग्नि होगी । इस प्रकार जो वस्तु प्रत्यक्ष/सामने नहीं है उसका ज्ञान आगम/अनुमान आदि प्रमाणों से किया जाता है ।

आस्तिक कौन है ? जिसकी मति मे "अस्ति" है वह आस्तिक । और जिसकी मति मे 'नही' है वह नास्तिक । मतलब, जो परमात्मा/आत्मा/लोक–परलोक को नहीं मानता, उसको आप नास्तिक कहते हैं । लेकिन क्या हम सबसे बडे नास्तिक नहीं हैं ? हैं न, कि सब कुछ मानते चले जाते हैं लेकिन अनुभव नहीं है । हमने पढा है सुना है, यदि उसके बारे मे तर्क करें कोई, तो उत्तर नहीं दे पाते, सिद्ध नहीं कर सकते हम, क्योकि उसका हमे अनुभव नहीं हुआ । वैसे अनुभव तो बहुत दूर की बात है आत्मा के बारे मे

पढा–सुना स्वरूप भी ज्ञात नहीं रहता, उसकी तर्क युक्त सिद्धि की स्मृति नहीं रखते । फिर मन शकाशील वना रहा तो हम आस्तिक कैसे ? शिष्य ने इसीलिए कहा—यदि आत्मा होता तो **"जणाय ते नहि केम ?"** तव ज्ञात क्यों नहीं होता ? यदि होता तो अवश्य जणाता/मालूम होता – **"घट–पट आदि जेम"** घट और पट की तरह/भॉति वह मालूम होता उसका ज्ञान होता । घट क्या ? घट कहते हैं घडे को और पट कहते हैं कपडे को । जैसे कपडा सामने दिखाई देता है, उसका रग भी आकृति आदि भी, अमुक सव कुछ दिखाई देता है और घट–पात्र भी दिखाई देता है । फलतः आत्मा होता तो घट–पट की भॉति दिखाई देता ।

वन्धुओ! शिष्य भरोसा करता है । लेकिन वस्तु स्थिति क्या है ? कि सभी वस्तुएँ/घट–पट आदि का व्यक्ति के नेत्रों से साक्षात्कार हुआ है, किन्तु आत्मा का/उसका नहीं होता । किन्तु आदमी नेत्रों से सभी वस्तुओं का साक्षात्कार नहीं कर सकता/देख नहीं सकता । यद्यपि वे जड हैं/मूर्त्त हैं। आत्मा/चेतन मूर्त्त नहीं है वह तो अमूर्त्त है/अरूपी है. उसको ये इन्द्रियॉ आदि कैसे ग्रहण करेंगी, क्योकि उसमे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं है । इन्द्रियॉ तो इन चारो को ग्रहण करेंगी जहॉ ये होंगे तो उसको इन्द्रियॉ पकड लेगी, लेकिन जहॉ ये नहीं है तो उसको इन्द्रियॉ कैसे ग्रहण करेगी, नहीं करेंगी ।

आगम मे एक कथा आती है । इक्षुकार नगर निवासी भृगु एक पुरोहित था । उनकी पत्नि वशिष्ठ गोत्रीय यशा थी । दो पुत्र थे । उनको विराग हो गया उन्होने माता–पिता से कहा कि–"हम सन्यासी वनेगे, साधु वनेगे । वृत्ति आ गयी मन मे, किन्तु माता यशा और पिता भृगु के मन मे वहुत पीडा हुई कि पुत्रो का वियोग हो जायेगा, इतना अपार धन घर मे पडा हुआ है, क्या कमी है इस घर मे । उन्होने पुत्रों को समझाने का वहुत प्रयत्न किया, लेकिन वह विराग मजीठ रग की भाति था । मजीठ रग पक्का होता है । पुत्रों और माता–पिता मे वहुत प्रश्न–उत्तर हुए । प्रत्येक प्रश्न

का उत्तर समीचीन दिया पुत्रो ने, फलत भृगु के मन का सन्तुलन पुत्र मोह के कारण बिगड गया और तत्व दृष्टि/दर्शन का सहारा लेकर उनके मन को/निश्चय को भ्रमित करने का प्रयत्न किया । पिता कहते हैं – "पुत्र! किसका कल्याण करोगे, किसे बन्धन से मुक्त करोगे, कौन ज्योत मे ज्योत समायेगा, सदा के लिए जन्म–मरण को कौन समाप्त करेगा ? तुम जिस आत्मा की चर्चा करते हो–"आत्मा है", कहॉ आत्मा है ?

उसने एक युक्ति दी–बेटा! जैसे अरणि मे आग न होते हुए भी आग उत्पन्न हो जाती है, दूध मे घी, तिल मे तेल उत्पन्न हो जाता है, इसी प्रकार शरीर मे चेतना उत्पन्न हो जाती है, किन्तु शरीर के नष्ट होने पर वह चेतना शक्ति भी नष्ट हो जाती है । जैसे अरणि के नष्ट होने पर आग, दूध के फट जाने पर घी और तिलो के पुराने पड जाने पर तेल स्वत ही नष्ट हो जाता है –

"जहा य अग्गी अरणी–असन्तो, खीरे घयं तेल्ल महातिलेसु ।
एमेव जाया सरीरंसि सत्ता, समुच्छई नासइ नावचिट्ठे ॥"*

जैसे एक कवि ने अन्य भी कहा है –

"पॉंचतत्व का बना पूतला, जिसका नाम धरा बन्दा ।
कारीगर ने खूब घड़ा है, साफ किया फेरा रंदा ।
बाहर काया कंचन जैसी, अन्दर माल भरा गदा ।
हुश्न जवानी यू ढ़ल जाये, चढ़े भान छुप जाये चदा ।
मौका है कुछ सौदा कर लो, फिर दिशावर हो जाय मदा ।
उस वक्त बन्दे कुछ भी न होगा, जब इजन पड़ा जाये ठंडा ॥"

क्या शेष रहा ? कुछ भी नहीं, अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है । पॉच तत्वो के समिश्रण से क्या बन गया है ? ये पुतला बन गया – ये देह बन गयी और पॉचो तत्वों का

* उत्तरा १४/१८ गा

समिश्रण वना रहता है, तव तक देह है तथा एक चेतना उत्पन्न हुई है । मतलव, जव तक तुम जीओगे तव तक देह है, और देह के विनाश होने के साथ ही "आत्म तत्व" समाप्त हो जाता है, क्योंकि उसकी निर्मिति है, यानि उसका वनना हुआ है, आत्मा वना है वह किससे वना है, पाँच तत्वों का जव मेल मिल गया, उनके समिश्रण से तो वना है, हाँ, और पृथ्वी तत्व, जलतत्व, अग्नि तत्व, वायु तत्व, आकाश तत्व ये पाँचों अलग-अलग हो जाते हैं तो फिर क्या नहीं रहता 'आत्मा' का कोई अस्तित्व नहीं रहता । मकान तो तभी तक मकान रहता है न, जव तक ईट से ईट पत्थर से पत्थर जुडा हुआ रहता है और जव वे अलग-अलग हो जाये तो, फिर अपन उसको मकान नहीं कहते, गिरा हुआ मकान कहते हैं या फिर मकान ही नहीं ।

आत्मा जाता है, आता है, कर्म का फल भोगता है आदि मिथ्या है, भ्रम है । आत्मा कहाँ जाता है कहाँ आता है ? जैसे कि चार्वाक दर्शन मे कहा गया है –

"ऋणं कृत्वा घृत पिवेत्, यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः ॥"

पुत्रों को समझाते हुए पिता भृगु ने कहा था –

"हस पिव च खाद मोद नित्यं,
भुक्ष्वं च भोगान् यथाऽतिकामं ।
यदि विदितं कपिल मतं,
तत्प्राप्स्यापि मोक्ष – सौख्यमचिरेण ॥"

"कि तुम घर मे रहो, घर मे हर प्रकार का सुख है और उस सुख का उपभोग करो । जिसके लिए लोक में मनुष्य तप तपते हैं सयम का पालन करते हैं, मतलव धर्म कर्म करते है उसका प्रतिफल मिलता है,"सुख" तो वह सुख एव उसके साधन सव अपने यहाँ घर मे मौजूद है, तो फिर वहाँ धर्म-कर्म करने की जरूरत क्या है ?"

मेरा ख्याल है और शायद आपने भी देखा होगा, जितने बडे-बडे धनी लोग होते हैं, और जितना धन का अम्बार बढता जाता है उतना ही धर्म उनके पास से दूर होता चला जाता है । और उनको करने की जरूरत भी नहीं होती शायद, क्योकि जिसके लिए किया जाता है "वह तो सब कुछ है ही " ऐसा सोच लेते होंगे ।

बन्धुओ! लेकिन नही धर्म भिन्न वस्तु है, धन अलग । धन तो देह के सुखोपभोग के लिए और जीवन यापन का साधन धन होता है, लेकिन धर्म तो आत्मा को शान्ति देने के लिए होता है । भृगु ने यह कहकर कि- "आत्मा ही नहीं है तो पुन जन्म और मरण कैसा, ससार मे परिभ्रमण कैसा ?" कुमारो को भ्रान्ति मे डालने का प्रयास किया, किन्तु उनको तो "जाति स्मरण" ज्ञान था, फलत अपने पूर्व जन्म को जानने के कारण विचलित/भ्रमित न होकर वास्तविक/सटीक उत्तर दिया- तात!**"नो इन्दिय गेज्झ अमुत्तभावा-"** आत्मा इन्द्रियो द्वारा ग्रहण नहीं होता, क्यो नहीं होता ? इसलिए कि वह 'अमूर्त्त' भाव वाला है, उसका स्वरूप अरूपी है अमूर्त्त है । कोई आकृति/शक्ल-सूरत नहीं है उसकी । इसलिए आत्मा इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य नहीं है— **"अमुत्त भावा वि य होइ निच्चो,"**× और आत्मा इसलिए नित्य हैं कि वह अमूर्त्त है क्योकि नाश मूर्त्त का होता है, अमूर्त्त का नाश नहीं होता । अमूर्त्त अविनाशी है और मूर्त्त क्या है, विनाशी-नाशवान है, शरीर मूर्त्त है, इसलिए इसका नाश होता है । तो अरूपी का नाश नहीं होता, क्यों नहीं होता ? हॉ, इसलिए नहीं होता कि वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श ये तत्व उसमे नहीं होते । जैसे आप कोई कपडा ले लीजिए,-कितना ही बढिया अच्छा, कपडा हो, कुछ वक्त गुजरने के बाद, काल बीतने के बाद भले ही आपने उस वस्त्र को पहना नहीं हो, इस्तेमाल नहीं किया हो, पेटी आदि मे बन्द करके रक्खा था लेकिन कुछ वर्षो के बाद निकालों

× उत्त. १४/१९

तो उसके रग मे, स्पर्श मे परिवर्तन दिखाई देगा और उसके तन्तुओ मे, अस्तित्व मे जरूर जीर्णता होगी । इसलिए मूलत. जिसमे वर्ण-गध-रस-स्पर्श है नाश उसी का है, परिवर्तन उसी का है, लेकिन आत्मा का कभी नाश नहीं आत्मा मे कोई परिवर्तन नहीं क्योकि वह चेतन है, अरूपी है ।

"अज्झत्थ हेउ निययस्स बन्धो, ससार हेउं च वंयति बन्ध ॥"

"आत्मा के लिए आन्तरिक राग-द्वेष एव मिथ्यात्व आदि ही बंन्ध के कारण हैं । और यह बन्ध ससार (आवागमन) का कारण है ।"

अब शिष्य गुरुदेव से विनम्र निवेदन करता है—

"माटे छे नहीं आत्मा, मिथ्या मोक्ष उपाय ।
ए अन्तर शकातणो, समजावो सदुपाय ॥४८॥"

अर्थात् – जव 'आत्मा' नहीं है तो उसके मोक्ष का उपाय मिथ्या है, व्यर्थ है, इसलिए (हे गुरुदेव!) मेरे अन्तर की, हृदय की शका के निवारण के लिए किसी सद्‌उपाय/अच्छे ढग से/सुतर्क आदि से समझाने का प्रयत्न करें ।"

शिष्य ने इस पद मे दो बातों की ओर ध्यान खींचा है –

एक–(पहले प्रकट की गई शकाओ के आधार पर) इसलिए आत्मा नहीं है, तो मोक्ष-उपाय मिथ्या है ।

दो– अन्तर की शका को सदुपाय से समझाने की प्रार्थना करता है ।

श्रीमद् ने इस पद मे शिष्य की जिज्ञासा का उल्लेख किया है— कि जब 'आत्मा' ही का अस्तित्व नहीं है या ज्ञात ही नहीं होता तो मोक्ष का क्या प्रश्न है, वह तो व्यर्थ है । इससे पहले ४५-४६-४७ वे पदों मे आत्मा के नहीं होने का कारण दिए हैं और ४९ वे पद में आत्मा के मोक्ष और उपाय को व्यर्थ कहा ।

"आत्मा नहीं है" की प्रतीति के कारण निम्न हैं –

- वह दृष्टि मे नहीं आता, उसकी आकृति/शक्ल–सूरत दिखाई नहीं देती,
- श्रोत्र आदि अन्य उपाय से भी उसका अनुभव नहीं होता ।
- देह ही आत्मा है, इन्द्रियाँ और प्राण ही आत्मा है,
- आत्मा होता तो घट–पट की भाति ज्ञात होता ।

बन्धुओ,**"माटे छे नहीं आत्मा"** जब "आत्मा" ही नहीं है तो 'मोक्ष' किसका ? और मोक्ष के लिए जो उपाय हम करते हैं जप–तप, व्रत आदि बाह्य अनुष्ठान, ध्यान, समाधि स्वाध्यायादि आन्तर, ये सब क्रियाएँ क्या होगी मिथ्या–व्यर्थ, बेकार । **"मिथ्या मोक्ष उपाय"** यानि इनका कोई अर्थ नहीं । **"ए अन्तर शका तणो"** यह "आत्मा है" मेरे मन मे शका है, **"समजावो सदुपाय"**, अच्छे/सुन्दर/सरल युक्ति/तर्क से यदि उपाय पूर्वक, मुझे समझाये तो मुझे समझ मे आयेगा कि आत्मा है ।

यहाँ दो–तीन बाते आपके सामने आयी हैं । पहली–आत्मा के प्रति मन शकाशील होता है । क्यो होता है, इसलिए कि हर व्यक्ति का मन चाहता है, कि कोई चीज सामने आये और जो प्रत्यक्ष है, जो दिखाई देती है वह ही "है", होती है और जो दिखाई आदि न दे वह वस्तु नहीं होती । मन जब ऐसा बन जाता है और बुद्धि मे यह बात आ जाती है, मनुष्य की बुद्धि जब 'प्रत्यक्ष' मे हो जाती है फिर वह 'परोक्ष' को नकार देता है, अतीत को नकार देता है, जो पहले हुआ उसको नकारता है, मात्र वर्तमान मे विश्वास करता है, और वर्तमान मे भी जो उसको नेत्र आदि इन्द्रियो द्वारा ग्रहण हो जाये तब। नहीं तो बस,"नहीं है ।" किन्तु आत्म तत्व तो इन्द्रियो द्वारा ग्रह्य नहीं है, वह अनुभवगम्य है। उसका अनुभव किया जाता है । और जब मन तथा मन से भी ऊपर। मन, बुद्धि भी उसको पूर्ण रूप मे स्वीकार नहीं कर सकते ।

इस प्रकार शिष्य ने आत्मा के सम्वन्ध मे चर्चा की है । छह पदो मे पहला पद है "आत्मा है" है । सर्व प्रथम इसका अस्तित्व स्वीकार करना पडेगा । अगर नींव है तो ऊपर मजिल खडी हो सकती है, रह सकती है, नींव ही नहीं है तो फिर ये जो देह है, किसके आधार पर चल रही है, ये जीव के आधार पर है, जीव ने धारण किया है मूल मे देह को धारण करने वाला कौन है, आत्मा है, जीव है और देह ने जीव को धारण किया है लेकिन इसका/शरीर का निर्माण/सवर्धन हुआ, इसकी जो डिवेलपमेन्ट हुयी है आत्म तत्व/चेतना के विना नहीं हुई । इसलिए आत्मा को स्वीकार करना होता है । लेकिन हम श्रद्धा से स्वीकार करते है । इसके साथ इसका अनुभव करना चाहिए और अनुभव हो गया तो आत्म तत्व समझ मे आ गया, तो फिर ये सभी क्रियाएँ/मोक्ष के उपाय सार्थक हो जाते है ।

अब बस, शेष कल आपके सामने आयेगा ।

अन्तिममगल : अरिहंत मगल...। चत्तारिमंगलं...।

बुधवार
२१, सितवर '८८

गुलाव सदन
१९,वर्टन रोड, वोलारम–१०
सिकन्द्रावाद

१

"भास्यो देहाध्यास थी, आत्मा देह समान ।
पण ते बन्ने भिन्न छे, प्रगट लक्षणे भान ॥"

•

"भास्यो देहाध्यास थी, आत्मा देह समान ।
पण ते बन्ने भिन्न छे, जेम असि ने म्यान ॥"

— श्रीमद्रायचन्द्र

४९ से ५८ पद

पण ते बन्ने भिन्न छे... : समाधान

मगंलाचरण त्रिभुवन पीडाहरणहार हो.....!
: दुनिया के चराचर जीवों पर कर्मों ने.....!

गीतिका . ओ मुसाफिर सुनते जाना...!

थुई · दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाण.....!

ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान महावीर, प्रभु का धर्म शासन और धर्म प्रज्ञप्ति । तीर्थंकर देव, प्रभु का जब समवसरण/धर्मसभा लगती है, तो सर्व प्रथम 'आत्म तत्त्व' का ही प्रतिपादन करते हैं, और हमारे अनुष्ठानों का लक्ष्य आत्मतत्व का साक्षात्कार करना ही है तथा आत्मा ही साध्य और आत्मा ही क्या है, यह मूल मे सिद्धावस्था वाली/सिद्ध है इसलिए सर्वप्रथम "आत्मतत्त्व" की जिज्ञासा है ।

आत्मसिद्धि नाम के शास्त्र/ग्रन्थ का पारायण चल रहा है, शिष्य की ओर से जिज्ञासा चल रही थी कि— आत्मा अरूपी, अमूर्त है, वह दिखाई नहीं देता है, इन्द्रियॉ उसे ग्रहण नहीं कर पाती हैं तो मानना चाहिए कि 'आत्मा' नाम के पदार्थ का कोई अस्तित्व नहीं है । यदि आत्मा होता तो घट-पट—जैसे घडा या कोई कपडा आदि पदार्थ जिसको हम देखते हैं, मतलब ऑखो से ग्रहण होता है, दिखाई देता है हम कहते हैं—"हैं", इसी प्रकार से आत्मा होता तो दिखाई देना चाहिए था उसको, लेकिन नहीं, **"माटे छे नहीं आत्मा, मिथ्या मोक्ष उपाय ।"** इसलिए यह मानना चाहिए कि आत्मा नहीं है और आत्मा नहीं है तो 'मोक्ष' का जो उपाय है, बन्धन का जो उपाय है, वह मिथ्या है, गलत है, न कोई बन्धन है, और न कोई मुक्ति है । बस, इहलोक है, जो दृष्ट है—यह लोक दिखाई देता है, ठीक है । **"आप मरे जग परलो"** - हम मर गए तो जगत/लोक मे प्रलय है हमारे लिए । कौन जन्म लेता है, कौन मरता है! देह ही आत्मा है, इन्द्रियॉ आत्मा हैं, प्राण ही आत्मा है ।

इनके अतिरिक्त कोई आत्मा का पृथक् अस्तित्व नहीं है। फलत. जो आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, उनका ऐसा मानना है, ऐसा कहना है ।

लेकिन यहॉ 'आत्मा है', (जो छह पदो मे पहला पद है – "आत्मा है, नित्य है, कर्म का कर्ता है, फल का भोक्ता है, मोक्ष है, और मोक्ष का उपाय है ।)" इसके लिए **"एह अन्तर शका तणो"** – कहा है । यानि यह अन्तर/हृदय शकाशील है इस बारे मे कि "आत्मा है या नहीं है," ये शका है, तो **"समजावो सदुपाय"**, कोई युक्ति से, उपाय से समझा जाना चाहिए ।

(शिष्य की आत्मा सम्बन्धी जिज्ञासा का समाधान गुरुदेव इस प्रकार करते हैं – यह श्रीमद् रायचन्द ने "आत्मसिद्धि" के ४९ से ५८ पदो मे कहा है) गरुदेव ने शिष्य के अनुसार **"समजावो सदुपाय"** को ध्यान मे रखते हुए ही सद्उपाय से,. भली रीति से समझाया है, उसका समाधान किया है । सर्व प्रथम देह और देही /आत्मा को पृथक् वताते हुए 'भेद-विज्ञान' की वात कहते हैं-**"भेय जाणंति जीव-देहाण"** शरीर/देह और आत्मा का पार्थक्य क्यों नहीं अनुभव मे आ रहा है, इसके लिए कहते हैं-

"भास्यो देहाध्यास थी, आत्मा देह समान ।
पण ते बन्ने भिन्न छे, प्रगट लक्षणे भान ॥४९॥"

–अर्थात् देहाध्यास से आत्मा देह के समान प्रतीत होती है किन्तु ये दोनों (आत्मा और देह) भिन्न-भिन्न हैं । यह दोनों के लक्षण से प्रकट ज्ञान होता है ।

इस पद मे तीन वाते हैं –१. देहाध्यास से देह समान आत्मा का प्रतीत होना । २. देह और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, ३. लक्षणों से इनका प्रकट ज्ञात होना ।

अब तनिक विस्तार से विचार कर ले – इस पद मे कहा—**"भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देह समान ।"**

देह-अध्यास से आत्मा को देह कह रहे हैं - कोई देह को, कोई इन्द्रियों को और कोई प्राणो को आत्मा कहते हैं । **"अथवा देहज आत्मा, अथवा इन्द्रिय प्राण,"** आत्मा क्या है ? देह ही आत्मा है, ऐसी कुछ लोगों की मान्यता है, नजरिया है, दृष्टिकोण है और यूँ कहो कि इन्द्रिया/ऑख, नाक, कान आदि कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय ये पॉच इन्द्रियॉ और प्राण । दस प्रकार के प्राण है /पॉच इन्द्रिय प्राण, तीन योग प्राण, मन,वचन, काया, श्वासोच्छ्वास और आयु । यानि जिसके आधार पर जीव/व्यक्ति, प्राणी जीता है, इसलिए कहना चाहिए कि वह 'प्राण' ही आत्मा है ।

अब प्रश्न उठता है कि देह को आत्मा क्यो कहा गया ? 'शरीर ही आत्मा है' ऐसी भ्रान्ति क्यो हुई ? या ऐसा एहसास क्यो होता है, आदमी की मान्यता/दृष्टिकोण ऐसा क्यो बना ?

उत्तर दिया गुरुदेव ने, **'देहाध्यास थी',** देहाध्यास से, यह उसका कारण है । कारण के बिना कार्य नहीं होता है । तो देहाध्यास कारण है । देह + अध्यास, देह = शरीर , अध्यास = भ्राति, भ्रान्त धारणा, कल्पना, मिथ्यात्व । तात्पर्य यह है कि "देह-धर्म को आत्मा समझने का भ्रम ही देहाध्यास है ।" देहाध्यास का मतलब देहबुद्धि । देहबुद्धि का अर्थ होता है शरीर/देह पर अत्यन्त ममता/मूर्च्छा । यानि हर समय बुद्धि का शरीर मे रहना है । और रहती भी है, तनिक विचार करो, रहती है या नहीं, - मै कमजोर न हो जाऊँ, दुर्बल न हो जाऊँ, मेरे शरीर मे कोई रोग न उत्पन्न हो जाय और तो क्या आदमी सोचता है—"मै बूढा न हो जाऊँ ।" देखो, ये भी एक चक्कर है, एक बहुत बडी चिन्ता है ।

आगम प्रवचन मे -"मिथ्यात्व मे परिणमन करने वाली तीव्र कषाय से अत्यन्त आविष्ट और जो जीव और देह को एक मानता है, वह बहिरात्मा कहा गया है, दृष्टिविपर्यास और कषायाविष्ट होने से जीव और देह को एक मानने की वृत्ति आती है । बहिरात्मा देह-मोह के कारण ही देह को

आत्मा मानता है । **"मोहोदएण पुणरवि अंग संमण्णए मणुओ।"** क्योकि देह से मिला हुआ ही जीव समस्त कर्म करता है, इसलिए उन कर्मो मे प्रवर्त्तमान को दोनों (देह और जीव) का एकत्व प्रतीत होता है । मै राजा हूँ, मै भृत्य हूँ, मै श्रेष्ठी हूँ, मै दरिद्र हूँ, मै दुर्बल हूँ, मै बलवान हूँ—इस प्रकार शरीर और आत्मा के एकत्व मे आविष्ट वह जीव शरीर और आत्मा के भेद को नहीं समझता ।"*

श्रीमद् ने 'देह और जीव' की एक रूपता मानने के कारणो पर प्रकाश डालते हुए कहा है –

"देह जीव एकरसे भासे छे अज्ञान बड़े,
क्रियानी प्रवृत्ति पण तेथी तेम थाय छे ।
जीव नी उत्पत्ति अने रोग, शोक, दुःख, मृत्यु
देह नो स्वभाव जीव पदमां जणाय छे ॥
एवो जे अनादि एक रूप नो मिथ्यात्वभाव,
ज्ञानी ना वचन बड़े दूर थई जाय छे ।
भासे जड़ चैतन्यनो प्रगट स्वभाव भिन्न,
बन्ने द्रव्य निज निज रूपे स्थित थाय छे ॥"*

"अर्थात्–शरीर और जीव एक रूप/एक है ऐसा जो आभास/ज्ञात होता है वह अज्ञान के कारण है । तथा ऐसी मान्यता वाले व्यक्ति की क्रिया की प्रवृत्ति भी वैसी हो जाती है । जीव की उत्पत्ति, रोग, शोक, दु ख, मृत्यु देह स्वभाव को जीवपद मे आभास करता है । ऐसा जो अनादि काल से आ रहा मिथ्यात्व भाव है, ज्ञानी पुरुषों के वचनों द्वारा दूर हो जाता है या हो सकता है । अनादि मिथ्यात्व भाव देह–जीव की एकरूपता के दूर हो जाने पर ही जड चेतन का स्वभाव प्रकटरूप से भिन्न ज्ञात होता है, दोनों द्रव्य/जड–चेतन/ अपने–अपने रूप मे स्थित हो जाते हैं ।"

---

* "जीव देह एक्क मण्णतो होदि वहिरप्पा"—द्वा.अ.१८३ गा., वही, १८५–१८७ मो पा.८७

* श्रीमद् वम्वई, कार्तिक वदि ११ मगल, १९५६

इस अष्टपदी मे 'देह और जीव' को एक मानने के मुख्य दो कारण दिए है—अज्ञान और मिथ्यात्व **'अज्ञानवडे', 'अनादि एक रूप नो मिथ्यात्वभाव ।'** यहाँ अज्ञान का अर्थ ज्ञानावरण कर्म के कारण बुद्धि/जो ग्राह्य एव निर्णायक तत्व है, मन्द होने से वस्तु स्वरूप को भली प्रकार नहीं ग्रहण कर सकता है । तथा 'मिथ्यात्व भाव' से अभिप्राय है अज्ञान और सम्यक्त्व मोह के उदयभाव से अन्त रुचि/दृष्टि का सम्यग् न होकर विपरीत/मिथ्या होना, अर्थात् तत्व के विपरीत दृष्टि का होना मिथ्यात्व है । जैसे, जीव को अजीव, पुण्य को पाप, और पाप को पुण्य मानना विपरीत है यही मिथ्यात्व का भाव है । अज्ञान और मिथ्यात्व ये दोनो है तो भिन्न कर्म के प्रतिफल किन्तु एक दूसरे के पूरक हैं, सहयोगी हैं । इसलिए आगम मे कहा गया है- **"अन्नाण मोहस्स विवज्जणाए"**—अज्ञान और मोह छोडने योग्य है ।* आगम मे 'दर्शन के बिना ज्ञान नहीं और ज्ञान बिना चरित्र का मूल्य नहीं है,' कहा है – **"न दसणिस्स नाण, नाण विणा ण हुन्ति चरण गुणा ।"***इसलिए मिथ्यात्व एव अज्ञान ही इस देह और जीव को एक मानने मे कारणभूत है । शिष्य को सयुक्ति समझाते हुए गुरु देव ने कहा है— **"भास्यो देहाध्यास थी, आत्मा देह समान ।"** यह भी अज्ञान और अनादि मिथ्यात्व भाव का ही रूप है । क्योकि 'देहाध्यास' सम्यग्दृष्टि और ज्ञानीजन को नहीं होता, अज्ञानी एव मोह वाले व्यक्ति/आत्मा को होता है । देहादि तथा जगत के मूर्त पदार्थो मे व्यामोहित व्यक्ति उसके क्षणिक, क्षणभॅगुर, जड–स्वभाव, गुण–धर्म को विस्मृत कर उन्हे शाश्वत–नित्य तथा 'स्व' मान लेता है,—यह तत्व को विपरीत रूप मे ग्रहण करना है, यही अज्ञान है, मिथ्यात्व है ।

देहबुद्धि, देह ममत्व का स्वरूप, आप एक सस्मरण से समझ सकेगे । —मुझे एक बुजुर्ग मिला था । सब प्रकार

---

* उत्त २८/३०
* उत्त – ३२/२

का ये भौतिक सुख जिसके घर मे विद्यमान था । लडाई-झगडा नहीं, क्लेश नहीं,. कुछ नहीं, जीवन वडे सुख से व्यतीत हो रहा है, धर्मध्यान करता है—सामायिक/सन्ध्या, तपस्या आदि । सव प्रकार की स्थिति है जीवन मे लेकिन उदास है, वहुत प्रयत्न किया उसके लडकों ने लडकियों ने, पूछा – "आपको क्या तकलीफ़ है, क्या कारण है उदासी का, कोई कारण तो होगा ?" "कुछ नहीं,"– एक ही जवाव था, – "कोई दुःख नहीं, मुझे कोई शिकवा-शिकायत नहीं भरे पूरे परिवार से ।" तो फिर उदास क्यों हैं ? कोई उत्तर नहीं । भूख कम हो गई तो भोजन कम हो गया, और दुर्वल होता चला गया ।

एक वार गम्भीर उदास था । मुझे कहने लगे कि महाराज! आप पूछो, शायद कोई वात वता दे अपने मन की । तो हम चाहते है कि इनके मन मे प्रसन्नता रहे, उदासी न हो । मैंने पूछा—क्योंकि यदि हमारे कारण से कोई सुखी हो सकता है तो क्या हर्ज है ? मैंने उनको एकान्त मे वुलाकर पूछा कि आपको कारण क्या है, कोई कारण नहीं तो यह कैसे ? कारण तो होना ही चाहिए कोई न कोई ।" लेकिन कोई वात वनी नहीं । मैंने सपर्क साधे रक्खा । कुछ समय के वाद एक दिन मैं उनके पीछे पड़ गया, वहुत आग्रह किया तो कहने लगे – "महाराज, कुछ नहीं मुझे तो अपने आप की ही चिन्ता है ।" अपने आप की क्या चिन्ता है ? खाने को, पहनने को सुन्दर-पर्याप्त मिलता है, सव आदर-मान करते हैं और क्या चाहिए ? धर्म-ध्यान है तो वह आप करते ही हैं सव । फिर ? उत्तर दिया –"नहीं, मै तो सोचता हूँ काया कमजोर हो रही है दिनोदिन, यह शरीर जो है कृश होता जा रहा है, पहले देखो हाथ कैसे थे अव हाथ पतले हो गये हैं, शीशा/दर्पण मे देखता हूँ, पहले चेहरा ऐसा था अव ऐसा हो गया ।" मैंने कहा – 'सोचते रहोगे तो और अधिक जल्दी हो जाओगे।"

"हाँ, यह क्या है ? देह वुद्धि है । और जव यह समझ लिया कि यह शरीर का स्वभाव है । "शरीर' शब्द का

निर्वचन ही इसलिए यही किया है । इस देह को 'शरीर' शब्द से/सज्ञा से पुकारा ही इसीलिए है कि जो क्षण-क्षण मे विशरूरी भाव/विकृति, विकार दशा, को प्राप्त होता है, छिन-छिन मे जो छीजता रहता है, वह शरीर है ।" "शीर्यते जीर्यते तच्छरीरम्"—जो जीर्ण-शीर्ण होता रहता है वह शरीर है । **'सरीर वाहि आलए-शरीरम् व्याधि मन्दिरम्'** शरीर तो व्याधियो का घर है । लेकिन महापुरुषो ने **"शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्"** शरीर तो धर्म-साधना का पहला साधन कहा है । उसकी सार-सभाल करना हिफाजत करना, उसे स्वस्थ रखना कोई बुराई नहीं है, लेकिन देह बुद्धि न होना । जब देह बुद्धि हो जाती है तो दृष्टि सोते, बैठते, उठते, चलते-फिरते हर वक्त जब शरीर पर रहती है, तो वह देह-बुद्धि बन गयी । ऐसी जो देह-बुद्धि होती है उसमे मोह होता है और शरीर मोह है—कि "शरीर नहीं, कुछ नहीं!" शरीर दुर्बल है, शरीर रोगी है कि बस, कुछ नही ससार मे, कौन किसी का है, ये शरीर ही अपना है, अपना ही शरीर साथ न दे तो क्या करे कोई ?" ये जो वृत्ति आ जाती है आदमी मे, यह जो मानसिक दुर्बलता आ जाती है, उसका प्रभाव क्या होता है, कि वह व्यक्ति देह को ही सब कुछ मान बैठता है देह से परे जो 'आत्मा' है, उस तरफ उसका नजरिया जाता ही नहीं, दृष्टिकोण उसका वहाँ तक पहुँचता नही, और मात्र वह शरीर तक ही उलझ कर रह जाता है । क्योकि जो भी क्रिया होती है वह प्रत्यक्ष मे शरीर से ही होती है । इसलिए देहबुद्धि के कारण देह को ही "आत्मा" मान लिया, आत्मा को देह मान लिया । ऐसी मान्यता वाला 'देहात्मवादी' कहलाता है ।'

देह मे आत्मा का आभास नहीं हुआ है, प्रत्युत **आत्मा देह समान ?**-आत्मा कैसा है ? देह के समान । बस, देह मे और आत्मा मे कोई अन्तर नही है ।'

किन्तु गुरुदेव ने उत्तर मे कहा - **"पणते बन्ने भिन्न छे"** लेकिन ये दोनों भिन्न हैं/पृथक् है अलग-अलग है । देह

और आत्मा एक नहीं है । दो हैं । **"प्रगट लक्षणे भान"** यह तो देह और आत्मा के लक्षणों से ही प्रगट होता है। हम प्रत्यक्ष मे अनुभव करते है कि शरीर अलग है और आत्मा अलग है ।

कैसे ? शरीर के अग, उपाग, इन्द्रियॉ, वस्त्र आदि अमुक-अमुक जितने पदार्थ हैं इन सवको देख-सुनकर हम क्या कहते है ? यह ऑख किसकी 'मेरी है।' मेरी ऑख खराव हो गई', यह नहीं कहता कि ऑंख खराव हो गई । 'मेरी ऑख' खराव हो गई । मेरे पेट मे दर्द है, सिर मे दर्द है । वह 'मेरे' शव्द का प्रयोग क्यों करता है ? आत्म तत्व की सिद्धि इससे होती है । प्रत्यक्ष मे—देह अलग है और देही भिन्न हें । क्योंकि 'जिसे मेरा कहता है' वह भिन्न है । 'मै' और 'मेरा' :- ये दो हुए, एक नहीं । क्यों ? आवाज़ आती है, हॉ, उत्साह से, जिज्ञासा से वोलो । कोई वात नहीं, पूरी वात / तत्व समझ मे नहीं आया होगा तो सुनने से समझने से कुछ तो पल्ले पडा ही होगा, या पड़ेगा अवश्य । इतने साल सुनते रहे है । "मै और मेरा" ये एक नहीं हैं दो हें । 'मेरे' शव्द का उपयोग कव होता है जव हम दूसरी चीज़ को अपने साथ जोड़ते हैं । व्याकरण मे 'सम्वन्ध वाचक विभक्ति' होती है, "का, के, की" इसके लक्षण हैं । उत्तम पुरुष/प्रथम पुरुष अपने लिए तो एक वचन मे 'मेरा' का प्रयोग करता है; 'हमारा' का प्रयोग वहुवचन मे और सामने वाला द्वितीय पुरुष अथवा मध्यम पुरुष जिससे वार्तालाप हो रहा है; 'तेरा' 'तुम्हारा' का प्रयोग होता है तथा जिसके वारे मे व्यवहार करते हैं वह जो विद्यमान नहीं है अन्य पुरुष है उसके लिए 'उसका, उन्हों का', - 'राम का' आदि सम्वन्ध विभक्ति का प्रयोग होता है। तो इससे सिद्ध होता है 'मेरा', 'तेरा', 'उसका' ये पद दूसरी वस्तु का सम्वन्ध जोडते हैं किन्तु जिसके साथ जोड़ते हैं वह भिन्न है ।

उदाहरण के तौर पर, मेरा कोई वस्त्र गिर पड़ा, किसी ने उठाया और कहा "वस्त्र आपका गिर गया ? आपका है क्या?" ऐसा न पूछ कर सीधा कहें, 'कपडा' वोलो, ठीक है

न ? 'नही' । माला यहॉ रह गई, "माला किसकी है," अन्ततोगत्वा जब दो हैं - माला, माला का स्वामी तभी पूछ जाता है—आपकी है/मेरी है/हमारी है/उसकी है, तो उससे स्वत. सिद्ध होता है कि वस्तु और वस्तु का स्वामी अलग है, इसी प्रकार जिसे आप पुकारते हैं वह अलग-देही और देह । भले ही धारण किया हुआ है भले ही समिश्रण दिखाई देता है । अन्तरनिहित है फिर भी अलग है ।

उदाहरण के तौर पर - तेल है, बाती है, दीवा है, किन्तु ज्योति दिखाई नही देती, वे अलग-अलग हैं कि इकट्ठे है ? जलाऍगे तो जलेगा । ज्योति प्रकट हो जायेगी । समझने वाली बात इतनी सी है, और कुछ नहीं उसका मतलब तेल/बाती/दीपक होते हुए ज्योति से ज्योति प्रगट हो जाती है, हुई न, हॉ तो, सम्बन्ध जोडा उसके साथ, बस ये ही स्थिति है, देह के रहते हुए, दीपक के समान सब कुछ है, लेकिन/यदि ज्योति/सजीवनी शक्ति न हो तो कुछ नही है ।

इस चेतन/आत्मा को नाना नामो से पुकारा है । जिसने जैसा समझा उसी प्रकार का नाम दे दिया । तो इसलिए 'मै और मेरा' ये दोनो अलग-अलग हैं ।

अब सम्बन्ध को तोडने के लिए और वस्तु/देह-पदार्थ आदि पर ममत्व बुद्धि को दूर करने के लिए मै आपको और बात सुनाऊॅ, - हमारे बुजुर्ग कहा करते थे और आज भी जो अच्छे साधक साधु-साध्वी है, जिनको विवेक है, जीवन सयममय है जिनका, वे आज भी यह नहीं कहते कि, यह पात्र मेरा है, रजोहरण मेरा है, चादर मेरी है, ये भाषा नहीं बोलते । और हम जब छोटे-छोटे थे बोलते थे, किसका है, चादर किसकी है, 'मेरी है', 'पात्र मेरा है', और मेरा-मेरा कहते रहते तो गुरुमह महाराज कहते - "किसी का नहीं है यह, तुम्हारा क्या हो सकता है ? यह पुद्‌गल का है । यह किसी का नही है", इसका मतलब ममता का सम्बन्ध है । वे कहते थे तुम जो मेरा-मेरा करते हो इसमे "मम

भाव" प्रकट होता है, सम्बन्ध जुडता है क्या तुम सम्बन्ध जोडना चाहते हो या तोडना ? मूल मे तत्व दृष्टि से ये व्यवहारिक सयोग हैं, निमित्त है निश्चय नय मे 'ये तेरा नहीं है और तू इसका नही है ।" तो उसके लिए क्या भाषा बोलते है पुराने बुजुर्ग, विवेकी सत पुरुष क्या कहते हैं – "मेरी निश्राय मे", मेरा नही है, पात्र मेरा नहीं, इस समय मैने इसको क्या किया है उपयोग के लिए ग्रहण किया है ।" देखो, दोनो मे कितना अन्तर है । 'मेरा' कहने मे अधिकार भावना आती है, मम भावना प्रकट होती है, स्वामीत्व बनता है, और "मेरे निश्राय मे है ", सयम यात्रा के लिए इसका ग्रहण किया है । देखिए, देह और आत्मा को भिन्न इसीलिए कहा है । आत्मा का अस्तित्व और उसके पार्थक्य का इससे अधिक क्या अनुभव होगा । कितनी आत्मा की सूक्ष्म उड़ान है यह, सयम का कितना सूक्ष्म रूप है । भाषा–विवेक की कितनी उपयोगिता है इसमे । हम क्या करते है ? मेरा–मेरा करते रहते है, यही तो देहाध्यास है, वस्तु–अध्यास है, ममत्व है । आत्मा को देह मान लिया और देह को क्या मान लिया आत्मा !

पद के चतुर्थ पाद मे कहा गया है कि – **"प्रगट लक्षणे भान ।"** अर्थात् देह और आत्मा ये दोनो भिन्न है, यह लक्षणो से ही प्रकट है ।

कौन से लक्षण हैं वे ?

"गुरुदेव ने कहा –

"भास्यो देहाध्यास थी, आत्मा देह समान ।
पण ते बन्ने भिन्न छे, जेम असि ने म्यान ॥५०॥"

–"अर्थात् देहाध्यास के कारण/अनादि काल से अज्ञान ग्रहण से/आत्मा का देह के समान आभास होता है, किन्तु ये दोनो भिन्न हैं/पृथक् हैं, जैसे तलवार और म्यान है ।"

यहाँ आत्मा और देह को लक्षण, उदाहरण द्वारा भिन्न बताया है । जैसे तलवार और म्यान है । तलवार म्यान मे

रहते हुए भी भिन्न है, अलग है । इसी प्रकार से देह और आत्मा भी अलग-अलग है । आत्मा रूपी तलवार देह रूपी म्यान मे छुपी है, किन्तु हर व्यक्ति को उसका भान/ज्ञान नहीं होता/तलवार का स्वरूप म्यान ने ढाप दिया है और उसे तलवार मान बैठता है । यानि म्यान को देखकर तलवार कहता है । इसी प्रकार देह को आत्मा कहता है । वस्तुत हैं वे दो । इसकी अनुभूति करो बैठकर कभी, तो इसकी अनुभूति साक्षात् होगी ।

"जे दृष्टा छे दृष्टिनो, ते जाणे छे रूप ।
अबाध्य अनुभव जे रहे, ते छे जीव स्वरूप ॥५१॥

"अर्थात् जो दृष्टि/नजर को देखने वाला स्वय द्रष्टा है, जो रूप/वर्ण-रंगादि तथा आकृति, शक्ल-सूरत को जाननेवाली है और इस जानने और देखने का बिना किसी बाधा/रुकावट के जो अनुभव बना रहता है वही जीव का स्वरूप है । जीव का लक्षण है ।"

गुरुदेव ने आत्मा का स्वरूप या लक्षण बताया है । इस पद मे तीन लक्षण बताए हैं—दृष्टि, ज्ञान, अबाध अनुभव/"दृष्टा, ज्ञाता और अबाध अनुभव का रहना ।" इनसे जीव/आत्मा के स्वरूप की प्रतीति होती है । आओ, तनिक विस्तार से विचार करें—**"जे दृष्टा छे दृष्टि नो,"** जो द्रष्टा है, "दृष्टि को देखने वाला है ।" यो तो नेत्र/ऑख मे देखने की शक्ति रखती है, किन्तु वह 'आत्मा' को नहीं देख सकती, प्रत्युत 'आत्मा' इनको देखने वाला है, द्रष्टा है, यदि चेतना शक्ति इसके साथ न हो ऑखादि नहीं देख सकते, किन्तु आत्मा निर्बाध रूप से द्रष्टा रहता है इसलिए वह जो ज्ञाता है **"जो जाणे छे रूप"** उस रूप को/सूक्ष्म-स्थूल रूप को जानने वाला 'ज्ञाता' है अत वह जानता है, पहचानता है । जो कहता है - 'यह 'मेरा' है, यह मेरा नहीं है,' यह ऐसा है, ऐसा नहीं है, यह जो समझ है/ज्ञान है/सवेदना है/अनुभूति की शक्ति है, वह कौन है, आत्मा ही है ।

आगम कहता है – **"जेण विजाणाइ से आया"** अर्थात् जिससे जाना जाता है वह आत्मा है ।

आत्मा कौन है –"द्रष्टा है" – जो देखनेवाला है, दृष्टि को लेकर देखने वाला नहीं अपितु चर्मचक्षु न रहने पर भी जिसके देखने मैं और दृष्ट मे/देखे हुए मे कोई वाधा/व्यवधान नहीं पड़ता, इसलिए द्रष्टा कहा है । शरीर/नेत्र–इन्द्रिय नहीं देखते, तथा मन भी कुछ सीमा तक ही अनुभव करता है, मन की शक्ति भी समाप्त होती है लेकिन 'द्रष्टा' जो आत्मा है, दीर्घकालीन नहीं सर्व कालीन रहता है, इसलिए कहा **–"जे दृष्टा छे दृष्टिनो, जो जाणे छे रूप,"**

पद के तीसरे पाद मे **'अवाध्य अनुभव जे रहे'** कहकर गुरुदेव ने और स्पष्ट किया है कि नेत्रादि इन्द्रिय से आत्म–शक्ति सर्वोपरि है जिसमे विना वाधा, विना रुकावट के अनुभव वना रहता है—**"तेथी जीव स्वरूप"** – वही जीव का, आत्मा का स्वरूप है ।

इसे यूँ समझने का प्रयत्न करें– ऑख ने देखा, कान से सुना, जिह्वा ने चाखा, रसना ने स्वाद लिया, नासिका ने सूघा, हाथ ने छूकर के ज्ञान प्राप्त किया । कल्पना करो वह आदमी वाद मे अन्धा हो जाता है, ऑख विगड़ जाती है, या कान से वहरा हो जाता है, नासिका से सूघ नहीं सकता। इन्द्रिय शक्ति समाप्त हो गयी, आदि । ये जो इन्द्रियॉ अपने–अपने विषय को ग्रहण करती थी वे शक्तियॉ क्षीण हो गयी तथापि पहले का देखा, सूघा, सुना, चाखा हुआ तथा स्पर्श किया हुआ विषय आत्मा को, व्यक्ति को उसका अनुभव/स्मृति/धारणा वनी रहती है या नहीं ? वनी रहती है। किस कारण ? आत्म तत्व के कारण । ऑंख की देखने की शक्ति नष्ट हुई है । क्या उसका देखा हुआ रूप का अनुभव भी नष्ट हो जाता है ? क्या सुना हुआ शव्द खत्म हो जाता है ? नहीं, वह व्यक्ति के जीवन काल तक रहता है । इसलिए कहा है,**"ते छे जीव स्वरूप।"**

श्रीमद् रायचन्द्र ने 'आत्मसिद्धि' मे कहा – **"अबाध अनुभव जे रहे,"** बिना किसी बाधा के जिसे अनुभव बराबर बना रहता है, वह द्रष्टा-ज्ञाता आत्मा है । जब तक आत्मा सावरण/पराधीन रहता है तब तक मन और इन्द्रियो के माध्यम से द्रष्टा/ज्ञाता बनकर अनुभव करता है । कर्मावरण के दूर होने, स्वतत्र रूप मे आते ही वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान कर लेता है ।

इन्द्रियाँ : 'इन्द्र' शब्द आत्मा के लिए है, सस्कृत/प्राकृत मे आत्मा को 'इन्द्र' कहते हैं जो ऐश्वर्य शाली हो—**इन्दनात् इन्द्रः** । इन्दन अर्थात् ऐश्वर्य अथवा उस 'इन्द्र'—आत्मा की जिससे पहचान हो वह इन्द्रिय है । कहा भी है – **"इन्द्रस्यलिङ्गम् इन्द्रियम् ।"** देवताओं के राजा को भी 'इन्द्र' कहते हैं, वह भी शक्तिशाली है । फलत आत्मा भी 'अनन्त शक्तिगुण' के कारण 'इन्द्र ' कहलाता है और इन्द्र के लिए जो सहायक हैं – उसके ज्ञान मे, उसके अनुभव मे उसको 'इन्द्रिय' कहा है । ऑख देखने मे, कान सुनने मे, जिह्वा चाखने मे, नासिका सूघने मे तथा स्पर्शन इन्द्रिय/त्वग् इन्द्रिय शरीर, ये वस्तु को स्पर्श कर/छूकर ज्ञान प्राप्त करने मे सहायक हैं, अत इन्द्रियॉ कहलाती है । इन्हें 'इन्द्र' नहीं 'इन्द्रिय' अथवा इन्द्रियॉ कहते हैं ।

हम वस्तु को इन्द्रियो के माध्यम से ग्रहण करते है, किन्तु इन्द्रिय शक्ति के नष्ट हो जाने पर भी 'भुक्त ' का अनुभव बना रहता है । उदाहरण के तौर पर कि आप वृद्ध हो गए हैं किन्तु अपना बचपन याद है या नहीं ? है, अपना बचपन तो याद रहता है । आप कहेंगे बचपन तो इसलिए भी याद रह गया कि इन्द्रियॉ बिल्कुल स्वस्थ हैं । ठीक-ठीक हैं, शरीर, बुद्धि आदि सबका विकास हो गया इसलिए याद है । लेकिन कल्पना करो कि जवानी मे आकर अगहीन हो गया कोई, किसी भी प्रकार की स्थिति ऐसी आ गई, तो क्या वह अपने बचपन को भूल जाता है ? "नहीं", क्यो ? अबाध अनुभव वाला जीव है । इन इन्द्रियो

के ग्रहण किए हुए विषयों का जो अनुभव है, जो विना किसी रूकावट के वरावर वना रहता है, वही आत्मा है । **"जे विण्णाया से आया," "जे आया से विण्णाया"**× जो विज्ञाता है, जो विशेष रूप से जानने वाला है, जो देखने वाला है, और जो अनुभव करने वाला है, वही कौन है ? आत्मा है। देह/इन्द्रिय की शक्ति घटती वढती रहती है। कभी न कभी ऐसा भी समय आता है जव ऐन्द्रिक शक्तियाँ सर्वथा क्षीण हो जाती हैं । लेकिन आत्मानुभव वना रहता है। सत कवीर ने इस सम्वन्ध मे वहुत ही सुन्दर वात कही है वे कहते हैं –

"जात न पूछो साध की, पूछ लीजिए ज्ञान ।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान ॥"

साधु सत से उसकी जाति पूछने पर क्या लाभ है ? क्या तात्पर्य है ? उससे तो ज्ञान की वात पूछनी चाहिए । जाति तो वाह्य रूप है । 'जाति' जन्म और शरीर निर्माण /माता–पिता आदि के परिचयार्थ हो सकते हैं, किन्तु अन्तर्मन/हृदय का परिचय तो उसके ज्ञान/ध्यान उपदेश/विचार–वाणी से ही होता है । जिस प्रकार म्यान का मोल/मूल्याकन नहीं होता, तलवार का होता है । इसी प्रकार देह नहीं देही/आत्मा का अनुभव करो । साध्य आत्मा है, देह तो साधन है ।

एक अन्य वात को समझने का प्रयत्न करें— पशुमेला/जानवरो की मण्डी—वाजार जहॉ लगता है, पशु/गाय, भैस आदि वेचने–खरीदने/क्रय–विक्रय के लिए पशु लाते हैं तो उसके गले मे नया रस्सा, या कोई साकल वॉध करके लाते हैं । उसकी कीमत/पशु से भिन्न करते हैं क्या ? या साथ मे आ जाती है कि नहीं ! वोलो! उसके वीच मे ही आ जाती है । खैर, ये छोटी–छोटी वाते है । आपकी

× आचारग ५/६/८ सूत्र

दुकान पर ग्राहक आता है, यहाँ बोलाराम की तो मै नहीं कह सकता, प्राय. बडे शहरो मे ये स्थिति है कि ग्राहक दुकान पर जब आता है तो उसको ढग से बिठाते हैं, और आज तो दूकानो की सजावट/डैकोरेशन ढंग से होती है बैठने की जगह भी ढंग की होती है, फिर भी जो समझदार दुकानदार है ग्राहक के साथ नरमाई से पेश आता है, आदर के साथ उनको बिठाता है, कई स्थानो पर तो ग्राहक को चाय/ठंडा पिलाने का भी रिवाज है, ग्राहक सामान वगैरह खरीदते हैं, तो बिल मे साथ मे चाय/ठडे पेय का पैसा भी लगाते हैं क्या ? यदि लगाएगा तो वह कहेगा आपको कि सा'ब हमने कब कहा था ? लेकिन आखिर खर्च निकालते कहाँ से है ? ग्राहक की जेब से ही और कहाँ से निकालते है ! यह स्वाभाविक हैं । नीति कहती है, – **"आदौ नम्रः पुनर्नम्रः कार्यकाले च निष्ठुरः ।"** ग्राहक आता है तो बडी नम्रता का व्यवहार करते है, आदर सत्कार करते हैं और जब जाते है तो कहते है, अच्छा जी, फिर सेवा का मौका देना आदि जब कार्यकाल आता है, मतलब, बिल बनाने का वक्त आता है तो निष्ठुर बन जाते हैं । बहुत सीधी सी बात है बिल आय का ध्यान रखकर ही बनाता है । आखिर बैठा किस लिए है ।

इसका अर्थ है म्यान और तलवार दोनो अलग-अलग हैं; किन्तु मूल्य तलवार का ही होता है म्यान का नहीं होता, वह तो उसके/तलवार के साथ आती ही है । इसी प्रकार देह और आत्मा एक होते हुए भी तलवार और म्यान की तरह दोनो अलग-अलग हैं । तथापि म्यान शरीर की भाँति है और आत्मा तलवार की तरह । तलवार के बिना म्यान सार्थक नहीं और म्यान तलवार का आश्रय स्थान है । आत्मा ससारस्थ अवस्था मे शरीर के बिना पहचानी नहीं जाती, किन्तु बिना आत्मा के शरीर भी निर्जीव/शव है । फलत दोनो का मेल है । ये देह ससारिक जीवो के है ।

भगवान महावीर ने दो प्रकार के जीवों की वात कही—एक जीव सिद्ध और एक जीव ससारी, एक वद्ध है एक मुक्त है । जो वद्ध/ससारी जीव है वे देह से युक्त होते हैं, और जो जीव ससारी नहीं है मुक्त हैं, वे देह से रहित होते हैं ।

इन्द्रिय आत्मा नहीं:

"छे इन्द्रिय प्रत्येक ने, निज-निज विषयनु ज्ञान ।
पाँच इन्द्रिना विषय नुं, पण आत्मा ने भान ॥५२॥

– "प्रत्येक इन्द्रिय को स्व-स्व/ अपने-अपने विषय का ज्ञान होता है, किन्तु पॉचों इन्द्रियो के विषयों का आत्मा को ज्ञान होता है अर्थात्—पॉचों इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य विषयो को आत्मा जानता है ।"

इस पद मे दो वातो का उल्लेख किया गया है –

एक : प्रत्येक इन्द्रिय को स्व-स्व विषय का ज्ञान होना ।

दो : आत्मा को पॉचों इन्द्रिय द्वारा गृहित विषयो का ज्ञान होना ।

इस पर विचार चर्चा कर ले –

एक – अवाध्य अनुभव को सप्रमाण सिद्ध करते हुए गुरुदेव और अधिक स्पष्ट करते हैं आत्मतत्व के लिए कि, – **"छे इन्द्रिय प्रत्येक ने, निज निज विषय नु ज्ञान"**– गुरुदेव कहते हैं, देखो! आत्मा के पृथक् अस्तित्व का वहुत सीधा सा प्रमाण है कि इन्द्रियॉ स्व-स्व विषय को ही ग्रहण करती है । जैसे श्रोत्र/कान से सुनता है, सुना जाता है, दिखता नहीं । देखने का कार्य नेत्रेन्द्रिय/ऑख का है, उससे देखा जाता है किन्तु सुना नहीं जाता । नासिका का इन दोनों विषयो को ग्रहण नहीं करती, वह अपने विषय 'घ्राण' – गन्ध को ही मात्र ग्रहण करती है । रसना मात्र

रस को ग्रहण करती है अन्य अर्थो/विषयो को नहीं । स्पर्शन इन्द्रिय 'स्पर्शन्' गुण को ग्रहण करती है – शब्द, वर्ण, गन्ध, रस को नही । इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति सीमित है, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होता है । तथा बिना चेतना के एक भी इन्द्रिय सचलित नहीं होती ।

दो – किन्तु आत्मा की शक्ति/चेतना असीमित है, अनत है । उसे पॉचो इन्द्रियो द्वारा ग्रहण हुए विषयों का, अर्थो का ज्ञान रहता है । फलत वह शक्ति ही आत्मा है जिसको अबाध्य अनुभव तथा ज्ञान रहता है । ये इन्द्रियॉ भी बिना चेतना शक्ति के जडवत् हैं। चेतना से ही सचलित हैं । अत यह ठीक है –

"पॉच इन्द्रिना विषयनु पण आत्माने भान ।"

यहॉ, जो कहते हैं कि **"इन्द्रियाँ ही आत्मा है"** उसका निषेध करते हुए कहा है कि यह कहना ठीक नहीं, कसौटी पर खरा नहीं उतरता । क्यो नहीं ? इसलिए कि पॉचो इन्द्रियॉ अपने-अपने विषय/सॅबजेक्ट का ज्ञान करती है, ऑख देखती ही है, कान सुनता ही है, जिह्वा चाखती ही है । क्योकि ये इनका ग्राह्य विषय है । यदि आप ऑख से देखने का काम न लेकर सुनने का काम ले तो आप नहीं सुन सकते । वे एक-दूसरे के विषय को नहीं जान पातीं । क्योकि इन्द्रियों की शक्ति सीमित है, पॉचो इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है और रखता है । इसलिए **'अबाध्य अनुभव वाला 'आत्मा' है ।'**

"अथवा देहज आत्मा अथवा इन्द्रिय-प्राण" – यह मान्यता किसी भी प्रकार से कसौटी पर खरी नहीं उतरती । इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए गुरुदेव कहते हैं कि देह/इन्द्रिय/प्राण को समझने का प्रयत्न करना चाहिए । क्योंकि देह/इन्द्रिय और प्राण पुद्गल पिण्ड हैं पौदगलिक/भौतिक हैं, अपने गुण /स्वभाव और शक्ति के होते हुए भी किसी अन्य

शक्ति पर आश्रित रहना पडता है, अन्यथा जडता का रूप ही रहता है ।

बस आज इतना ही ।

अन्तिममगल : अरिहंत मगल...। चत्तारि मंगल...।

गुरुवार
२२ सितवर '८८

गुलाव सदन
१९, वर्टन रोड, बोलारम–१०
सिकन्द्रावाद

पण ते बन्ने भिन्न छे : समाधान (दो)

शिष्य की जिज्ञासा का समाधान करते हुए गुरुदेव आत्मा का अरूपी/अमूर्त्त स्वरूप तथा उसे इन्द्रियादि की प्रवृत्ति का आधार बताते हैं ।

श्रमण भगवान महावीर का धर्म सघ/तीर्थ/प्रज्ञप्ति अध्यात्म जीवन का सम्बलरूप है । प्रभु की धर्मप्रज्ञप्ति मे **'एगे आया'** सूत्र द्वारा आत्मा की प्रतिष्ठा की है । श्रीमद् के 'आत्मसिद्धि' ग्रन्थ के पारायण मे प्रथम पद 'आत्मा छे' का पारायण, उसमे 'समाधान' पक्ष की चर्चा चल रही है । आज भी इसी विषय मे,—

"देह न जाणे तेह ने, जाणे न इन्द्रिय प्राण ।
आत्मा नी सत्ता वडे, तेह प्रवर्ते जाण ॥५३॥

–" उस आत्म तत्व को देह/इन्द्रिय और प्राण शक्ति, के माध्यम से नही जाना जा सकता, ज्ञान नहीं होता इनसे । अथवा यूँ कहे कि देह/इन्द्रियाँ/प्राण को आत्मा का ज्ञान नहीं है, अपितु आत्मा की सत्ता के आधार पर इनकी/देहादि की प्रवृत्ति होती है ऐसा जानो ।"

जीवन क्या है ? 'जड और चेतन का समिश्रण है ।' देह/इन्द्रियाँ/प्राण जड सघातिक हैं और चेतना द्वारा सचालित है । प्रश्न या जिज्ञासा यही है कि यह जो चेतनादि देह से पृथक् है या उनसे उद्भूत है । स्वतत्र सत्ता वाला 'आत्मा' चेतना/ज्ञान/स्व–सवेदन गुण/धर्मवाला है । देहादि जड होने से उसका सचालन/प्रवृत्ति आत्मा की चेतना शक्ति के बिना सभव नहीं, आओ विस्तार से विचार करें—

गुरुदेव ने शिष्य से कहा है – **"देह न जाणे तेह ने ।"** देह आत्मा को नहीं जान पाता, देह द्वारा वह ग्राह्य नहीं, न ही इन्द्रियो और प्राणो द्वारा जाना जा सकता है ।

क्यों ? इसलिए कि वह अमूर्त है, अरूपी है । देहादि मूर्त हैं, रूपी हैं । अमूर्त को मूर्त्त कैसे जान पाएगा ? मूर्त्त-मूर्त्त का ज्ञान करता है । जैसे जगत के मूर्त्त पदार्थो को देह/इन्द्रियादि ग्रहण करती है, जानती हैं । आत्मवादी दर्शनों ने 'ज्ञान' चेतना को उसका गुण माना है अत· कहा है कि चेतना के आधार पर ही शरीर, इन्द्रिय, प्राणादि प्रवृत्ति करते हैं—**"आत्मा नी सत्ता वड़े, तेह प्रवर्त्ते जान,"** और आत्मा के अस्तित्व को, आत्मा की सत्ता को यदि स्वीकार करेंगे तभी ये मानना पड़ेगा कि आत्मा की सत्ता पर ही 'देह' खड़ी है, उसकी प्रवृत्ति है । आत्मा की सत्ता पर ही इन्द्रियॉ हैं, और उसकी सत्ता पर ही कौन है, 'प्राण' हैं । आत्म तत्व को यदि विलग कर दिया जाय, तो ये सब क्या हैं ? 'जड हैं' । करन्ट/विद्युत-तरग यदि न हो, ये सारा ढॉचा/लॉउडस्पीकर, टेपरिकार्डर आदि तथा वायरिंग, वल्व, ट्यूबे हर चीज़ कोई काम नहीं करते हैं । बस, यही मूल स्थिति है । (वोलते हुए करन्ट चला गया) अव वह करन्ट नहीं है तो क्या हुआ बाकी तो सव है न ? बाकी तो सब है लेकिन उनके होने का कोई मूल्य नहीं है, तो देह के रहते हुए ऑख है, नाक है, कान है, सर्व इन्द्रियॉ हैं किन्तु उसमे चेतना न हो तो सब स्थिर हो जाऍगे । उनमे स्पन्दना भी नहीं रहती । फिर देह/इन्द्रिय/प्राणो को आत्मा कैसे माना जाय ? इससे वह पृथक् है । ऐसा मानना चाहिए । आओ, तनिक तत्व दृष्टि से विचार करें कि इन्द्रिय और प्राणों का स्वरूप क्या है—

आगम मे इन्द्रियों के दो प्रकार हैं-द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रियॉ दो प्रकार की हैं-निर्वृत्तिद्रव्येन्द्रिय, उपकरण द्रव्येन्द्रिय। कान आदि की जो पौद्गलिक सरचना है, बाह्य आकृति/शक्ल है, छाज आदि जैसी वह द्रव्येन्द्रिय कहलाती है। तथा कान आदि की आन्तरिक पुद्गल सरचना जिसमे शव्द/ध्वनि आदि को ग्रहण करने की शक्ति है वह उपकरणेन्द्रिय है । इस प्रकार द्रव्येन्द्रिय पुद्गल रूप हैं, नामकर्म के उदय के अनुसार शक्ति मे वैभिन्नय है ।

भावेन्द्रिय के भी दो प्रकार हैं – लब्धि और उपयोग । ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से उपलब्ध सुनने–देखने आदि की शक्ति/चेतना का निरावरण होना/श्रोत्र–विज्ञानादि 'लब्धि भावेन्द्रिय' है । इन्द्रिय अर्थो को ग्रहण करने के लिए उस लब्धि/शक्ति का प्रयोग/स्पन्दना/चेष्टा ही 'उपयोग भावेन्द्रिय' है । इस प्रकार भावेन्द्रिय 'चेतना रूप' है ।*

बन्धुओ, निष्कर्ष यह है कि निर्वृतिबादरइन्द्रिय चिह्न रूप, पहिचान, एव उपकरणेन्द्रिय की रक्षा के लिए है तथा आभ्यन्तर स्वच्छ पुद्गल/सरचना/शब्द–गन्ध–वर्ण–रस–स्पर्श को ग्रहण करने मे सहायक है किन्तु उन ग्राह्य अथवा गृहित पुद्गलो का ग्रहण, लब्धि और उपयोग के बिना सभव नहीं है । क्यो ? इसलिए कि पुद्गल में पुद्गल–परमाणुओ को ग्रहण करने की क्षमता भले ही हो किन्तु गृहीत शब्द–गन्ध आदि को समझने, जानने, सूघने, चाखने आदि की चेष्टा और समझने की शक्ति चेतन मे ही है, वह अपनी चेतना से ग्रहण योग्य को ग्रहण और छोडने योग्य को छोडता रहता है । इस आधार पर ही कहा गया है – **"आत्मानी सत्ता वड़े तेह प्रवर्त्ते जाण ।"** शरीर–इन्द्रिय–प्राणादि सब आत्मा की सत्ता/अस्तित्व पर ही खडे हैं/प्रवृत्ति करते है ।

प्राण दश हैं—पॉच इन्द्रिय प्राण, तीन योग प्राण, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य । ये भी दो प्रकार के हैं – द्रव्य प्राण और भाव प्राण । द्रव्य प्राण भी इन्द्रियो की भॉति पुद्गल रूप है और भाव प्राण चेतना रूप है । देह आदि को आत्मा इसलिए माना कि 'देह–बुद्धि' है यानि देह की मोह–ममता के कारण ही 'आत्मा को देह' और 'देह को आत्मा के समान' मान लिया । लेकिन ये अनुभव नहीं किया कि देह का कार्य और आत्मा के कार्य मे, देह के स्वरूप और आत्मा के स्वरूप मे अन्तर है । एक नित्य है और

---

* प्रज्ञापना, इन्द्रिय पद

दूसरा अनित्य है, उसकी सवेदना शक्ति मे और इसकी मे, दोनो मे अन्तर है । वस, इस प्रकार की वात है । "आत्म सिद्धि ग्रन्थ" का पहला पद है **'आत्मा है'** ऐसा उन्होंने तर्क और वितर्क के आधार पर वताया है ।

अव गुरुदेव आत्मा की उस अवस्था का कथन करके शिष्य को 'आत्मा' के चैतन्यस्वरूप, निर्लेप रूप का ज्ञान करते हुए कहते हैं–

"सर्व अवस्था ने विषे, न्यारो सदा जणाय ।
प्रगट रूप चैतन्यमय, ए एंधाण सदाय ॥५४॥"

"स्वप्न आदि सर्व अवस्थाओं मे जो सदा न्यारा/पृथक–अलग जाना जाता है, रहता है, अर्थात् इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न उसका अस्तित्व वना रहता है । इसका प्रगट रूप चैतन्यमय है 'जानना' इसका प्रकट स्वभाव है, तथा यह चिन्ह/लक्षण सदा ही वना रहता है—कभी किसी समय भी इसका नाश नहीं होता ।"

आत्मा के तीन लक्षणो/चिन्हो का उल्लेख है–

१. स्वप्न–निद्रा–जाग्रत इन तीनों से पृथक् रहने वाला ।
२. "जानना" जिसका प्रकट स्वभाव है तथा जो चिन्ह रूप मे सदा ही वना रहता है ।
३. चैतन्य स्वरूप प्रकट रूप मे है ।

आओ! अव तनिक विस्तार से विचार कर ले–

'सर्व अवस्था ने विषे, न्यारो सदा जणाय'– आत्मा सभी अवस्थाओं मे सुप्त/जागृत/स्वप्न तथा शोक–हर्ष, रजोगम, हसी–खुशी/अमीरी–गरीवी मे, त्याग–विराग मे, योग और भोग मे, जीवन की प्रत्येक अवस्था/हर हालत मे, किसकी ? देह/इन्द्रियों और प्राणों की उन सब अवस्थाओं मे रहता हुआ भी आत्मा सर्वथा/विल्कुल पृथक् है । ये सभी अवस्थाये आत्मा के माध्यम से ही आती हैं; यानि चेतना के कारण हैं किन्तु चेतना के माध्यम/कारण होते हुये भी, फिर भी वह

इन सब से क्या है अलग है । जैसे कमल कीचड मे जन्म लेकर भी उससे उपलिप्त रहता है, इसी प्रकार आत्मा भी तो इस देह मे ही जन्म लेता है, और देह मे ही रहा है, वही से सब सहयोग/सयोग लेता है, किन्तु लिप्त नही होता उसमे; सदा न्यारा/अलग रहता है । जैसे कि कहा गया है–

"नलिन्याँ च यथा नीर, भिन्न तिष्ठति सर्वदा ।
अयमात्मा स्वभावेन, देहे तिष्ठति सर्वदा ॥"*

"प्रगटरूप चैतन्यमय"—वह शब्द–गध–रस–रूप–स्पर्श आदि और नाना प्रकार के जो काम–क्रोध–मोह लोभ आदि मनोभाव–इन्द्रियॉ आदि प्राण शक्तियो से व्यवहार करता हुआ भी अपनी चेतना शक्ति/गुण को नही छोडता । उससे जानता है इन अवस्थाओ को और जो अवस्थाएँ आयेगी उन भविष्य कालीन गतिविधि/परिणति का भी जानने वाला रहता है – यह सवेदन/अनुभव चेतना रूप है । चैतन्य स्वरूप है जिसका, ऐसा चैतन्यमय रूप—**"शुद्धचैतन्य लक्षणम्"** जो प्रगट रूप है, प्रत्यक्ष है, अहर्निश रहता है । यह सदा ही नित्य है तथा यही इसका लक्षण है/चिन्ह है जो कभी नष्ट नहीं होता ।

"ए इंधाण सदाय" – यह प्रमाण सदा ही बरावर बना रहता है, जिसका कभी नाश नहीं होता । जैसे कि कहा है–

"आकार रहितं शुद्धं, स्वस्वरूपे व्यवस्थितम् ।"

अर्थात् – "वह आकार रहित/अमूर्त्त, शुद्ध और स्वस्वरूप/अपने स्वरूप मे, कौनसा स्वरूप ? **"चैतन्यमय"** चिन्मय स्वरूप मे अवस्थित रहता है । गुरुदेव शिष्य को "अह प्रत्यय" के आधार/माध्यम से आत्म स्वरूप एव उसके अस्तित्व की पृथक् से [illegible] करा रहे हैं ।

* [illegible] ७२ श्लो.

"घट-पट आदि जाण तु, तेथी तेने मान ।
जाणनार ने मान नहीं, कहिये केवुं ज्ञान ॥५५॥"

अर्थात् – "घट-पट आदि जड पदार्थों/रूपी वस्तुओ को तुम/प्रश्नकर्ता/शिष्य को सम्बोधन करते हुए अथवा हे आत्मन्। तू जानता है कि 'वे हैं', इसलिए उन्हें मानता है । किन्तु जो घट-पट आदि को "जाननेवाला है" उसे मानता नहीं, (कि आत्मा की पृथक् सत्ता है) यह कैसा ज्ञान है ? इसे कैसा ज्ञान कहा जाय ?"

इस पद मे तीन तत्व विचारणीय हैं-

- घट-पट आदि को जाननेवाला ।
- जानने वाला होने से मानता है कि 'है' ।
- जो जानने वाला है अथवा जिससे जाना जाता है, उसको मानता नहीं, स्वीकार नही करता, फिर यह कैसा ज्ञान है ?

आओ, इस पर तनिक विचार चर्चा कर ले- ।

"घट-पट आदि जाण तु," – घट-पट आदि मूर्त्त/रूपी पदार्थों/वस्तुओं को तू जानता है कि 'ये हैं', किन्तु ये प्रत्यक्ष हैं, स्थूल हैं, इन्द्रियग्राह्य हैं ।

"तेथी तेने मान" – इसलिए तू मानता है कि 'ये हैं' और मान/गर्व भी करता है, जानने मानने का/ज्ञाता होने का, किन्तु,

"जाणनार ने मान नहीं" – जो जाननेवाला है, ज्ञाता है जिसके माध्यम से तूँ सब ये जानता है, उस ज्ञाता को जानता नही, मानता नहीं ! किसे ? आत्मा/जीव को । फिर यह ज्ञान कैसा है ? किससे उत्पन्न हुआ क्योकि आत्मा/जाणनार को तू मानता नहीं । अथवा तुझे वास्तविक/असली जो ज्ञाता है उस पर मान होना चाहिए, उस पर न करके देह/इन्द्रियाँ

आदि भौतिक शक्ति पर करता है जो वास्तविक ज्ञाता/जाणनार नहीं है, सहकारी साधन मात्र हैं ।

आओ, इसे पुन दोहरा ले ताकि स्पष्ट हो जाए –

यहाँ कहा गया है कि तुझे "जाननेवाले को" मान/अहकार हुआ है ? कैसा ? कि "मै जानता हूँ" – मै घट को जानता हूँ, मै पट को जानता हूँ, अर्थात् घट-पट आदि मूर्त्त पदार्थों को तूँ जानता है इसलिए मानता है – "ये है" । घट का मतलब घडा आदि कोई पात्र है । क्योकि उसमे एक आकृति रग-रूप स्पर्शादि है, अन्ततोगत्वा कोई कुछ तत्व है उसमे, क्योकि वह मूर्त्त है । 'पट'—कपडा-कपाट । इसमे भी रग स्पर्शादि/विषय हैं, आकार है, इसलिए दिखाई दे रहा है, अनुभव हो रहा है, यही 'मान' अथवा मानने का कारण है । किन्तु 'आत्मा' जाननेवाला विज्ञाता गौण हो गया, छुप गया अर्थात् ज्ञाता/जाननेवाला गौण हो गया और 'ज्ञेय भाव' मुख्य यानि मूर्त्त पदार्थ/पुद्गल—भौतिक द्रव्य मुख्य हो गए – कि "ये हैं", इनका / अस्तित्व/सत्ता मानने लगा किन्तु –"जाणनार ने मान नहीं" जो ज्ञाता है, जाननेवाला उसको तू मानता नहीं अर्थात् उस पर 'मान' होना चाहिए कि – "यह मेरा आत्मा ज्ञान स्वरूप है, ज्ञान/चेतना से ही इन्द्रियों–मनादि का सचालन है तथा इनके माध्यम से इन जड/अजीव पदार्थों का ज्ञान हुआ कि ये घट-पट आदि हैं, तो उसे/ज्ञान करानेवाले तत्व को, उस चेतना शक्ति को विस्मृत कर दिया, भूल गया! फिर यह घट-पट आदि का ज्ञान कैसा ? ऐसे ज्ञान को क्या कहा जाय ?"

बन्धुओ। गुरुदेव ने शिष्य को बताया कि "जो घट-पट आदि को जाननेवाला/ज्ञाता है वही आत्मा है । क्योकि बिना ज्ञाता के ज्ञेय को ग्रहण कौन करेगा ? ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता तीनों मे ज्ञान शक्ति रूप है, ज्ञाता उसका प्रयोग कर्ता है, उपयोग लगाता है और ज्ञेय उस ज्ञाता से भिन्न तत्व जड-चेतन पदार्थ हैं । आगम मे कहा है–

"जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया

"जेण विजाणइ से आया,"×

"जो आत्मा है वही विज्ञाता है, जो विज्ञाता है/जाननेवाला है, वही आत्मा है, जिससे जानता है वह तो आत्मा है।"

सारांश – गुरुदेव का शिष्य को यही कहना है कि 'घट–पट' आदि मूर्त्त पदार्थों के लिए तो कहता है कि 'ये हैं' किन्तु जिस शक्ति से तूने इसका ज्ञान किया है, जो इन्हें जानता है, उससे तू अनभिज्ञ है/अजान है ? फिर तेरे इस ज्ञान को क्या कहा जाए ? क्योकि मात्र देह, इन्द्रिया और प्राण से यह ज्ञान नहीं हो सकता। ये सब आत्मा की सत्ता पर ही प्रवृत्त होते हैं, अकेले नहीं। ऐसा तुम्हें जानना–मानन चाहिए। *

अब गुरुदेव एक अन्य उदाहरण देकर पुनः आत्मा के पृथक् अस्तित्व को सिद्ध करते हैं –

"परम बुद्धि कृश देहमां, स्थूल देह मति अल्प।
देह होय जो आत्मा, घटे न आम विकल्प ॥५६॥"

–अर्थात् "कृश/दुर्बल शरीर मे परम/श्रेष्ठ बुद्धि होती है, तथा स्थूल/मोटे शरीर मे अल्प/थोडी/मन्द बुद्धि रहती है। यदि देह ही 'आत्मा' होती तो यह विकल्प/भेद नहीं घटता।"

यहाँ दो बाते विचारणीय हैं–

एक : कृश/दुर्बल देह मे परम बुद्धि का होना, स्थूल देह मे अल्प/थोडी बुद्धि–मन्द बुद्धि होना।

दो : यदि देह ही आत्मा होता तो यह विकल्प/भेद नहीं होना चाहिए।

आओ! तनिक विस्तार से चर्चा करे –

× आचाराग सूत्र ५/६ उद्दे ३४७ सूत्र
* देखे ४३वा पद

इस पद मे गुरुदेव ने सशक्त युक्ति से शिष्य को समझाया है कि व्यक्ति का शरीर, सज्ञी जीवो/मनवाले जीवो का शरीर स्थूल भी होता है तो किसी का पतला/कृश/दुर्बल भी होता है । यह अक्सर देखा जाता है कि **"परम बुद्धि कृश देह मां"** शरीर पतला-दुबला है किन्तु इसमे/व्यक्ति मे बुद्धि परम/उत्तम/तीव्र बुद्धि है, मानो बुद्धि का भण्डार है, बुद्धि का विकास है और **'स्थूल देह मति अल्प'** – एक बहुत मोटा-ताजा पहलवान जैसा आदमी है, उसमे मति की मन्दता, कम अक्ल है, बुद्धि अल्प है । हॉ, तो यह विकल्प हो गया, यानि भेद हो गया । देह को आत्मा मानने वालों की मान्यता मे विरोध उपस्थित हो गया है । क्योंकि यदि "देह ही आत्मा है" तो फिर यह बात नहीं फिट बैठ सकती । विशाल काय देह हो तो बुद्धि अधिक/उतनी होनी चाहिए, छोटी देह/पतली देह होतो बुद्धि कम होनी चाहिए, क्योकि देह को ही जब आत्मा मान लिया, तो शरीर के मुताबिक ही बुद्धि होनी चाहिए । उसी के मुताबिक सूझ-बूझ होनी चाहिए, लेकिन नहीं । इसमे विकल्प देखा जाता है । क्या ? शरीर दुबला-पतला, छोटा, लेकिन उसमे बुद्धि तीव्र है और कई शरीर जो स्थूल हैं, बुद्धि अल्प रहती है । इसे क्या मानना चाहिए ? क्योकि **"देह होय जो आत्मा, घटे न आम विकल्प"**, अगर 'देह ही आत्मा' हो तो यह विकल्प नहीं होना चाहिए । उसे वैसा ही मानना चाहिए – 'कि बडा शरीर/स्थूल देह बडी स्थूल बुद्धि और छोटा शरीर तो छोटी/सूक्ष्म बुद्धि ।"

वैसे तो विकल्प/भेद चार हो सकते हैं और ये प्रत्यक्ष अनुभव मे भी आते है ।

विकल्प चार :

– " कृश देह परम बुद्धि
– स्थूल देह मन्द बुद्धि
– स्थूल देह परम बुद्धि
– कृश देह मन्द बुद्धि "

अब्राहम लिंकन, कृष्णा मेनन आदि कृश काय व्यक्ति किन्तु बुद्धि तीव्र, एक राष्ट्रपति अमेरिका तो दूसरा रक्षामत्री, भारत यू.एन.ओ. मे कश्मीर के लिए सात घटे का लगातार भाषण देने का रिकार्ड़ । मुशी प्रेम चन्द महान् साहित्यकार, पं. मदनमोहन मालवीय, हरदयाल एम.ए , डॉ. सम्पूर्णानन्द आदि स्थूल यानि भरमा शरीर वाले किन्तु बुद्धि से विचक्षण बुद्धि से धनी थे । इस प्रकार पॉच भूतों से वनी देह को आत्मा माननेवालों की मान्यता का यह विकल्प निरस्त कर देता है। क्योकि बुद्धि का सम्बंध मतिज्ञान के साथ है । और मतिज्ञानावरण कर्म उस ज्ञान का अवरोधक है, आवरक हैं । इस कर्म का क्षयोपशम किसी भी आयु वाले व्यक्ति को, चाहे वह शरीर से कृश हो या स्थूल, हो सकता है । इसके आडे आयु, कद, मोटापन/स्थूलत्व/कृशत्व/पतलापन, दुर्बलता नहीं आती । अतः इससे स्पष्ट है कि पाच भूतों के सघातिक देह से 'आत्मा' पृथक् है । अर्थात् **"देह आत्मा नहीं है ।"**

आगम मे इस ज्ञान के सम्वन्ध मे एक प्रश्न–उत्तर है कि —"भन्ते! स्वाध्याय से जीव/व्यक्ति क्या प्राप्त करता है ?" उत्तर मे कहा गया है –"स्वाध्याय से ज्ञानावरण/ज्ञान शक्ति का आवरक–ढापने वाले कर्म का क्षय करता है ।" * स्वाध्याय को साधु–समाचारी/नित्य आचरण मे स्थान देते हुए कहा है **–"सज्झाए वा निउत्तेण, सव्व दुक्ख विमुक्खणे ।"** तथा **"गुरुं वदितु सज्झाय कुज्जा दुक्ख विमोक्खणि ।"**

अर्थात् सर्व दुखो से मुक्ति पाने के लिए/छुटकारे के लिए स्वाध्याय करनी चाहिए । अज्ञान दुख का कारण है, स्वाध्याय से ज्ञान की प्राप्ति होती है, बुद्धि निर्मल होती है । यदि देह ही आत्मा है तो फिर इसका महत्व ही नहीं रहेगा ।

---

* उत्त २९/१८ प्र उ, वही, २६/१०,२१ गा

किन्तु देखा जाता है कि स्थूल शरीरी–कृश शरीरी दोनो ही व्यक्ति स्वाध्याय से लाभान्वित हुए हैं, बुद्धि निर्मल हुई है ।

बस, आज इतना ही ।

अन्तिममंगल : अरिहत मंगल...। चत्तारि मगलं...।

गुरुवार
२२ सितबर '८८

गुलाब सदन
१९, बर्टन रोड, बोलारम–१०
सिकन्द्राबाद

पण ते बन्ने भिन्न छे : (तीन)

अब गुरुदेव जड़-चेतन के एकत्व का निषेध करते हुए 'पार्थक्य गुण' का उल्लेख करते हैं—

"जड़ चेतन नो भिन्न छे, केवल प्रगट स्वभाव ।
एकपणु पामे नहीं, त्रणे काल द्वय भाव ॥५७॥"

-"अर्थात् जड/अजीव और चेतन/जीव का प्रकट रूप से अत्यन्त भिन्न/पृथक् स्वभाव हैं । ये एक रूप/एकपन को प्राप्त नहीं करते, यानि दोनो एक रूप नहीं होते, तीन काल/अतीत/वर्तमान/अनागत मे भी दो-जड-चेतन भावों वाले रहेंगे ।"

इस पद मे दो बातों का उल्लेख हुआ है -

१ जड-चेतन दोनो का नितान्त भिन्न स्वभाव है ।

२ तीन काल मे भी दोनो का एकत्व नहीं हो सकता, सदा ही द्वयभावी रहेंगे ।

आओ इस पर थोडा विचार कर ले-

गुरुदेव ने शिष्य की शका का-**"वली जो आत्मा होय तो जणाय ते नहिं केम ?"** समाधान करते हुए कहा कि -**"जड़ चेतन नो भिन्न छे, केवल प्रगट स्वभाव,"** अर्थात् जड का स्वभाव गलन, सडन-विध्वसंन है, परिवर्तनशील है, नश्वर है । दूसरे का स्वभाव दायमी-कायमी है, अपरिवर्तनशील है, अनश्वर है । इसलिए कहा— **"जड़-चेतन नो भिन्न छे"** - ये दोनों क्या हैं अलग-अलग हैं तथा इनके स्वभाव-गुण-धर्म भी भिन्न हैं,— **"केवल प्रकट स्वभाव' - एकपणु पामे नहीं,"** इसमे एकत्व नहीं पाया जा सकता, यानि एक जैसे, स्वभाव, गुण

और धर्म नहीं हो सकते, दोनो के स्वभाव-गुण और धर्म अलग-अलग हैं, अलग भी इतने कि 'केवल' मात्र उसी मे ही दूसरे मे नहीं । जैसे कि एक का 'चेतना स्वभाव' है और दूसरे का 'जड स्वभाव' है, जब दोनो का स्वभाव ही एक नहीं है, तो **'एक पणु पामे नहीं',** एकपना, एकत्व मतलब एक जैसा कैसे हो सकते हैं ? नहीं हो सकते ।

मूलगुण-स्वभाव, धर्म क्या हैं ? (प्रकट करें-श्रोता का प्रश न।) एक वस्तु/पदार्थ मे पाया जानेवाला उसका मूलगुण/ धर्म/स्वभाव यदि किसी दूसरे पदार्थ/द्रव्य/वस्तु मे पाया जाता है तो वह गुण/धर्म/स्वभाव या लक्षण 'व्यभिचारी' कहलाता है। वह किसी एक वस्तु या पदार्थ का गुण/धर्म, स्वभाव का मूल लक्षण—जिससे उसकी पहचान होती है, नही रहता । जैसे, अग्नि का लक्षण/स्वभाव 'उष्ण' और जल का स्वभाव 'शीतल' होता है । यदि यह उष्णता और शीलता परस्पर मे प्राप्त हो जाय तो उसका लक्षण/स्वभाव नहीं रहेगा। ससर्ग से उष्णता, शीतलता भले ही आती जाती रहती है । जैसे अग्नि के ससर्ग से जल उष्ण/गर्म हो जाता है किन्तु मूल भाव 'शीतलत्व' है जो कभी नहीं बदलता । इसी प्रकार जीव और अजीव/चेतन और जड का स्वभाव-चेतना-जडता कभी नहीं बदलते ।"

जड- जिसमे तीन काल मे ही जानने की शक्ति नहीं है, अचेतन है, अजीव है, मूर्त्त है /रूपी है, पुद्गल की अपेक्षा।

चेतन- जो ज्ञाता है जानने की शक्ति वाला है, जीव है, उपयोग/ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला है ।

इसलिए आत्मा घट-पट की भाति देखा-जाना नहीं जाता, क्योकि वह अमूर्त्त आदि स्वभाव वाला है, घट-पट के जड स्वभाव से भिन्न है । 'आत्मा है' -**"जणाय जो; ते होय तो,"** इसकी शका व्यर्थ है । वह तो है ही 'आत्मा छे'।

"त्रणे काल द्वय भाव,"- तीनो कालो मे, कौन से ? अतीत, जो बीत गया, अब, वर्तमान और आगे/अनागत—

भविष्य मे ये न एक थे, न हैं, और न होंगे । जड-जड़ ही रहेगा, चेतन-चेतन ही रहेगा/इनका द्वैत/द्वय भाव स्पष्ट प्रकट है ही । प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ अनुमान और आगम प्रमाण भी यही कहते है-

आगम मे जीव-अजीव तत्वो/सद्भाव पदार्थो की प्रतिष्ठा करते हुए उन्हें सत्ता की दृष्टि से भिन्न तथा पृथक् लक्षणों गुण /धर्म/स्वभाव वाले बताए हैं ।

"दव्वं जीवमजीवं, जीवो पुण चेदणोवजोगमओ ।
पोग्गल दव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि अज्जीवं ॥"

द्रव्य दो है - जीव और अजीव । जीव चेतना तथा उपयोगमय है/ज्ञान-दर्शन वाला है । पुद्‌गल आदि अचेतन अजीव हैं ।* **"जीव चेव अजीवा य एस लोए वियाहिए ।"**× जीव-अजीव जहॉ पाये जाते हैं, लोक है ।

श्रीमद् ने अन्यत्र भी इसी तत्त्व/बात को स्पष्ट किया है-

"जड़ ने चेतन बन्ने, द्रव्य ने स्वभाव भिन्न ,
सुप्रतीतपणे बन्ने, जे ने समजाय छे ।
स्वरूप चेतन निज, जड़ छे सम्बन्ध मात्र,
अथवा ते ज्ञेयपण, परद्रव्य माय छे ।
एवो अनुभव नो, प्रकाश उलासित थयो,
जड़ थी उदासी तेने, आत्मवृत्ति थाय छे ।
काया नी विसारी माया, स्वरूपे शमाया एवा,
निर्ग्रन्थनो पथ भव, अन्त नो उपाय छे ॥"'

श्रीमद् ने गुरु-शिष्य सवाद के माध्यम से 'आत्मा' के पृथक् अस्तित्व को युक्ति-युक्त एव सरल रीति से समझाने का सफल प्रयास किया है । गुरुदेव शिष्य को 'अह प्रत्यय' के माध्यम से कि "वही आत्मा है" समझाते हुए कहते हैं -

---

* प्र.सा २/३५ गा
' ४/८३६, १-२ पद

"आत्मा नी शका करें, आत्मा पोते आप ।
शंकानो करनार ते, अचरज एह अमाप ॥५८॥"

–"जो आत्मा की शका करते हैं, कि "आत्मा है या नहीं", वह आत्मा स्वय अपनी ही शका करता है । "शका करने वाला ही आत्मा है," यह नहीं जानता कि यह तो अथाह/अमाप आश्चर्य है ।"

इस पद मे दो तथ्य उजागर हुए हैं–

एक : आत्मा स्वय ही अपने बारे मे शका करता है कि आत्मा है या नहीं ।

दो : शका का करने वाला वही–आत्मा ही तो है ।

आओ! इसपर तनिक विस्तार से चर्चा कर ले—

गुरुदेव ने शिष्य को इस पद मे बताया कि यह बहुत/अमाप आश्चर्य की बात है कि आत्मा अपने बारे मे ही शका करता है कि,"मै/आत्मा हूॅ या नहीं" वह शकाशील, शका करनेवाला ही तो आत्मा है ।" अन्य कौन ? "मै हूँ" – "मै कौन हूॅ" – वह कौन है, क्या है आदि जिज्ञासा की स्फुरणा चेतना धर्म/स्वभाव/गुण वाले चेतन/आत्मा को ही होती है, जड/अचेतन मे स्वसवेदन, पर–सवेदन कहॉ होता है ? **"आत्मा नी शका करे आत्मा पोते आप,"** "आत्मा के विषय मे शका करता है कि आत्मा है या नहीं है ।" कौन करता है शका ? यहॉ मनुष्य/पशु और पक्षियो से मतलब नहीं है, जैन और सनातन किसी मजहब, आम्नाओ या सम्प्रदाय का सवाल नही है, प्रश्न है तत्व के विश्लेषण एव/स्वरूपज्ञान का ! **"आत्मा पोते आप"** – शका करने वाला तत्व ही आत्मा है । क्योकि आत्मा चेतन है, और चेतन के बिना यह शका/सशय उत्पन्न करने वाला और कोई है ही नहीं । तर्क–वितर्क/विचार–विमर्श आदि उपापोह जो पैदा होते हैं ये किसमे होते हैं ? चेतन मे ही होते हैं, जड मे नही होते । इसलिए कहते हैं – "आत्मा की शका स्वय आत्मा ही करता

है ।" यदि ये शका देह मे-इन्द्रियों/प्राणो मे होती तो आत्मा के शरीरादि से निकल जाने के बाद भी होनी चाहिए । जिसको अपन 'मृत' प्राण रहित कहते हैं । जो मूर्छित अवस्था मे, बेहोशी की हालत मे होता है उस वक्त शकाएँ उत्पन्न नहीं होती । उस समय भी कोई सकल्प-विकल्प पैदा होते हैं क्या ? नही । क्यो नहीं ? ये जड हैं चेतना क्या हो गई, चेतना मद हो गई/या चली गयी है ।

"शका नो करनार ते, अचरज ए अमाप," गुरुदेव कहते हैं- यह अमाप, जिसका माप-तोल ही नहीं कोई, अत्यन्त मुझे आश्चर्य हो रहा है, कि, जो आत्मा के विषय मे शका का करने वाला है, "ते", वही तो आत्मा है/जीव है और फिर कहता है "आत्मा है या नहीं," यह बडे आश्चर्य की बात है ।

आपने पहले भी कई बार सुना हो-एक उदाहरण है—, दस आदमी यात्रा के लिए निकले, मार्ग मे विश्राम किया और उसके बाद फिर यात्रा शुरु की । मार्ग मे बोले देख लो, गिन लो, कोई पीछे रह तो नहीं गया । एक व्यक्ति उनमे से गणना करता है/गिनता है—एक, दो-तीन-चार-पाँच, सब को गिन लेता है, कितने ? नौ हैं । हम तो दस चले थे, नौ रह गए, फिर गणना करता है, नौ ही गिने जाते हैं । जो गिनता है वह अपने को भूल जाता है, अपने को नहीं गिनता । बहुत देर तक आपस मे इसी तरह चलता रहा, - कहॉ गया, कौन रह गया ? बताता कोई नहीं, केवल प्रश्न करते है ।

कोई दूसरा व्यक्ति आया, पूछा - "क्या बात है भाई!"

"हम दस चले थे नौ रह गए ।"

वह कहता है "तुम नौ कहॉ हो ? दस हो ।

"कहॉ ? फिर गणना करते हैं तो गणक अपने को नहीं गिनता उसमे । भूल जाता है ।

"तुम अपने आप को भी तो गिनो ?", गणना की तो पूर्ण हो गए । वही स्थिति है आत्मा के विषय मे शका करने वालों की कि आत्मा है क्या ? जड–चेतन क्या है ? क्या पुण्य–पाप हैं ? आदि, ये शकाऍ पैदा कहॉ होती है ? चिन्ता भी उद्भूत होती है, यदि चिन्ताऍ न हो तो ये शकाऍ भी उत्पन्न नहीं हों । इसलिए कहते हैं यह बडा आश्चर्य है कि शका करने वाला स्वय को विस्मृत/ भूल जाता है, नहीं जानता है ।

एक और उदाहरण सुनिए । गुरुमह गुरुदेव प्रवर्तक प.र. श्री शुक्लचन्द्र जी महाराज सुनाया करते कि जीवात्मा अपने अज्ञान के कारण भ्रान्तिमान/शकाशील होकर मिथ्यात्व मे रमण करने लगता है । वस्तु को सम्यग् रूप मे नहीं देखता, अनुभव नहीं करता ।

एक पोस्ती/अफीम के डोडे आदि पीने वाला व्यक्ति यात्रा के लिए चला । साथ मे नशे पत्ते की सामग्री/डोडे/पोस्त भिगोने का पात्र, घोटने की कुडी–सोटा आदि लेकर ही चला । मार्ग मे एक वृक्ष के नीचे बैठकर नशापान किया और सामग्री को अपनी कमर मे बाध कर सो गया, कि कोई उसे/सामग्री को उठाकर न ले जाय । नशे की पिनक आ गई, सो गया ।

उसी वृक्ष के नीचे कोई एक अन्य नशेडी/नशा करने वाला आदमी आ गया । उसने देखा कि इसके पास पोस्त आदि सब सामग्री हैं क्यो न तू भी लाभ ले ले । फलत उसने पोस्त भिगोए, घोट कर, पीकर, सो गया । जो सामान/सामग्री उस पहले सोए व्यक्ति की कमर से वन्धी खोली थी, अपनी कमर के साथ बॉध कर सो गया ।

जब पहला आदमी जागा, चलने को तैयार हुआ किन्तु देखता है कि एक व्यक्ति सोया पडा है, कमर के सामान बॉधे हुए, वह विचार मे, भ्रम मे पडा गया कि यह सव सामग्री तो मेरी कमर के बन्धी थी, अव देखता हूॅ इसके बन्धी हुई हैं, तो "मै वह हूं या यह हूॅ", क्योकि "मै तो

वह था जिसके पास सामग्री थी, मै कौन सा हूँ ? यह या वह ।" इस प्रकार भ्रान्तिमान/शकाशील हो गया अपने विषय मे ही! कारण ? नशा, मादकता मे ठीक अनुभूति नहीं है ।

वन्धुओं। इसी प्रकार यह व्यक्ति/जीवात्मा देहाध्यास के कारण, अनादिकालीन मोह/अज्ञान आवरण से आवृत हुआ अपने रूप को, आत्मस्वरूप को देख नहीं पा रहा है फलत. शकाशील रहता है अपने लिए ही ।

भगवान महावीर के सान्निध्य मे आये महापडित इन्द्रभूति गौतम के मन मे भी आत्मा के प्रति सशय/शका थी कि आत्मा की जीव सिद्धि किसी भी प्रमाण से नहीं हो सकती अतः जीवात्मा नहीं हैं ।* श्रमण भगवान ने उनके मन के इस 'सशय' को उद्घाटित करते हुए कहा –"आयुष्मन् इन्द्रभूति गौतम। तुम्हें जीव के अस्तित्व के विषय मे सन्देह है । तुम यह समझते हो कि जीव की सिद्धि किसी भी प्रमाण से नहीं हो सकती, तदपि ससार मे बहुत से लोग जीव का अस्तित्व तो मानते ही हैं, अतः तुम्हें सशय है कि जीव है या नहीं ?"

"हे गौतम ! जीव के विपय मे तुम्हारा सन्देह उचित नहीं है । तुम्हारा यह कहना कि "जीव प्रत्यक्ष नहीं" अयुक्त है, क्योकि जीव तुम्हें प्रत्यक्ष है ही ।

इन्द्रभूति– यह कैसे?

भगवान–'जीव है या नहीं' इस प्रकार का जो सशय रूप विज्ञान है वही जीव है, क्योकि जीव विज्ञान रूप है । तुम्हें तुम्हारा सन्देह तो प्रत्यक्ष ही है, क्योकि वह विज्ञानरूप है । जो विज्ञान रूप होता है वह स्व–सवेदन प्रत्यक्ष से स्व–सविदित होता ही है, अन्यथा विज्ञान का ज्ञान घटित नहीं हो सकता । इस प्रकार "सशय रूप विज्ञान" यदि तुम्हें प्रत्यक्ष हो तो उस रूप मे जीव भी प्रत्यक्ष ही है । जो

---

* गणधरवाद गाथा १५४९.

प्रत्यक्ष हो उसकी सिद्धि मे अन्य प्रमाण अनावश्यक हैं, उसी प्रकार जीव भी स्व-सविदित होने के कारण सिद्धि के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता ।

"पुनश्च, यदि सशय करने वाला कोई न हो तो -"मै हूँ या नहीं" यह सशय किसको होगा ? सशय विज्ञानरूप है और विज्ञान एक गुण है । गुणी के बिना गुण की सभावना नहीं, अत सशय रूप विज्ञान का कोई गुणी मानना ही चाहिए । सशय का आधार गुणी ही जीव है ।

हे सौम्य! आत्मा का साधक एक अनुमान यह भी है-"तुम्हारे मे जीव है ही," क्योकि तुम्हें इस विषय मे सशय है । जिस विषय मे सशय हो, वह विद्यमान है । जैसे कि स्थाणु (ठूठ) और पुरुष के विषय मे सशय होता है और वे दोनो ही विद्यमान होते हैं । जो अवस्तु हो, सर्वथा अविद्यमान हो, उसके विषय मे कभी किसी को सन्देह नहीं होता ।

इन्द्रभूति-जिस विषय मे सशय होता है, वहॉ सशय के विषयभूत दो पदार्थो मे से एक की सत्ता होती है । जैसे कि स्थाणु-पुरुष विषयक सन्देह-स्थल मे उक्त दोनो मे से कोई एक ही विद्यमान होता है, दोनो नहीं । फिर आप यह कैसे कहते हैं कि सशय का जो विषय हो, वह विद्यमान ही होता है ।

भगवान-हे गौतम! मैने यह तो नहीं कहा कि जहॉ जिस विषय मे सदेह होता है वह ही वहॉ विद्यमान होता है । मेरा कथन केवल यह है कि सशय की विषय भूतवस्तु वहॉ या अन्यत्र कहीं भी विद्यमान अवश्य होती है । तुम्हें जीव के विषय मे सदेह है । अत उसे अवश्य ही विद्यमान मानना चाहिए ।अन्यथा उस विषय मे सदेह नहीं हो सकता, जैसे कि छठे भूत के विषय मे सशय नहीं होता ।×

× वही - गाथा १५७१

इन्द्रभूति–यदि सशय का विषयभूत पदार्थ अवश्य विद्यमान होता है तो कई लोगो को खरश्रृंग के विषय मे भी सशय हुआ करता है अत गधे के सींग भी विद्यमान मानने पडेगे।

भगवान–मैने तो यह वात कही ही है कि सशय की विषयभूत वस्तु ससार मे कहीं न कहीं अवश्य विद्यमान होनी चाहिए। अविद्यमान मे सशय ही नहीं होता। प्रस्तुत मे सशय विषयभूत सींग गधे के चाहे न हों, किन्तु अन्यत्र गाय आदि के तो होते ही हैं। यदि विश्व मे सींग का सर्वथा अभाव हो तो उस विषय मे किसी को सन्देह ही न हो। यही वात विपर्यय ज्ञान अथवा भ्रमज्ञान के विषय मे समझ लेनी चाहिए। यदि ससार मे सर्प का सर्वथा अभाव हो तो रस्सी के टुकडे मे सर्प का भ्रम नहीं हो सकता। इसी न्याय से यदि तुम शरीर मे आत्मा भ्रम ही मानो तो भी आत्मा का अस्तित्व वहाँ नहीं तो अन्यत्र मानना ही पडेगा। यदि जीव का सर्वथा अभाव हो, तो उसका भ्रम नहीं हो सकता।*

आत्मा के अस्तित्व के वारे मे इन्द्रभूति जी गौतम ने "सशय–विज्ञान–रूप से जीव प्रत्यक्ष है" को जानकर पुन श्रमण भगवान से निवेदन किया है – "आपने कहा है कि सशय विज्ञान रूप से जीव प्रत्यक्ष है। यह वात ठीक है किन्तु किसी अन्य रीति से वह प्रत्यक्ष होता हो तो वताएँ।"

भगवान–"मैने किया" "मै करता हूँ" "मै करूँगा" इत्यादि प्रकार से तीनो काल–सम्वन्धी अपने विविध कार्यो का जो निर्देश किया जाता है, उसमे, "मै" पन का जो अह रूप ज्ञान होता है वह भी आत्म प्रत्यक्ष ही है। यह अह रूप

'अत्थिच्चिय ते जीवो ससयतो सोम्म! थाणु पुरिसोव्व।
ज सदिद्ध गौतम। त तत्यण्णत्थ वत्थि ध्रुव ॥'

* वही १५७२ गा.

ज्ञान किसी भी प्रकार अनुमान रूप नहीं हैं, क्योकि वह लिग जन्य नहीं है । यह आगम प्रमाण रूप भी नहीं है, क्योकि आगम मे अनभिज्ञ सामान्य लोगो को भी अहपन का अन्तर्मुख ज्ञान होता ही है । और वही आत्मा का प्रत्यक्ष है । घटादि पदार्थो मे भी आत्मा नहीं है, अत उन्हें इस प्रकार के अहपन अर्न्तमुख आत्मप्रत्यक्ष भी नहीं होता ।" *

फिर यदि जीव का अस्तित्व ही नहीं है, तो उसे 'अह' इस प्रत्यय का ज्ञान कहॉ से हो सकता है ? क्योकि ज्ञान निर्विषय तो होता नहीं । यदि 'अह-प्रत्यय' के विषयभूत आत्मा को स्वीकार न किया जाय तो 'अह-प्रत्यय' विषय रहित बन जाता है । ऐसी स्थिति मे 'अह-प्रत्यय' होगा ही नहीं ।

इन्द्रभूति-"अह प्रत्यय का विषय जीव के स्थान पर यदि देह को माना जाए तो भी अह-प्रत्यय निर्विषय नहीं हो पाता । "मै काला हूँ" "मै दुबला हूँ" इत्यादि प्रत्ययो मे 'मै' स्पष्टत शरीर को लक्ष्य मे रखकर प्रयुक्त हुआ है । अत 'मै' को यदि देह माना जाए तो इसमे क्या आपत्ति है ?"

भगवान-यदि 'मै' शब्द का प्रयोग शरीर के लिए ही होता हो तो मृत देह मे भी अह प्रत्यय होना चाहिए । ऐसा नहीं होता, अत 'अह'पन के ज्ञान के विषय देह नहीं अपितु जीव है । पुनश्च, इस प्रकार 'अह प्रत्यय' से तुम्हें 'आत्मा' प्रत्यक्ष ही है । "फिर मै हूँ या नहीं" इस सशय को अवकाश ही नहीं रहता । इससे विपरीत "मै हूँ ही" यह आत्म विषयक निश्चय होना ही चाहिए ।

निष्कर्ष : बन्धुओं। हमे आगम तथा आगमेत्तर साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि 'आत्मा है और उसका पृथक्

---

* वही-१५५५-५६ गाथाएँ

अस्तित्व है' तथा 'अह' प्रत्यय ही उसकी प्रतीति के लिए पर्याप्त है । भूतो के सयोजन से आत्मा उत्पन्न नहीं हुआ और न ही वियोजन से नष्ट होता है । वह असयोगी है, स्वतत्र है, एक है, अखण्ड है ।

बस, इतना ही । पहले पद का पारायण समाप्त हुआ ।

अतिममंगल : अरिहत मगल...। चत्तारी मगलं...।

गुरुवार
२२ सितबर ८८

गुलाव सदन
१९, वर्टन रोड, वोलारम–१०
सिकन्द्राबाद

दूसरा पद

"ते नित्य छे"

शं
का
|
स
मा
धा
न

१२ पद

५९ से ६१ पद
६२ से ७० पद

श्रीमद्रायचन्द्र

२

"ते नित्य छे"

शंका

"बीजी शका थाय त्या, आत्मा नहीं अविनाश ।
देह योग थी ऊपजे, देह वियोग नाश ॥"

•

"अथवा वस्तु क्षणिक छे, क्षणे-क्षणे पलटाय
ए अनुभव थी पण नही, आत्मा नित्य जणाय ॥"

— श्रीमद्रायचन्द्र

५९ से ६१ पद

आत्मा नहीं अविनाश : शंका

शिष्य सद्गुरु के समक्ष अपनी जिज्ञासा–**"माटे छे नहीं आत्मा"** का समाधान प्राप्त करता हुआ आत्मा के अस्तित्व का भान अन्तर्विचार से, चिन्तन–मनन से सभव होता है कि स्वीकृति देता हुआ कहता है–,

"आत्माना अस्तित्वना, आपे कह्या प्रकार ।
संभव तेनो थाय छे, अतर कर्ये विचार ॥५९॥

"हे गुरुदेव! आत्मा के अस्तित्व/होना पन/सत्ता/एग्जिस्टेन्स के विषय/बारे मे जो–जो आपने प्रकार/भेद बताए हैं तथा युक्तियाँ दी हैं, उन्हें अन्तर मे/हृदय मे विचार करने से सभव होता हैं अर्थात्–आत्मा का अस्तित्व ज्ञात होता है, उसका अनुभव सभव होता है ।"

इस पद मे "आत्मा के अस्तित्व" के लिए दो उपायो का कथन है–

एकः गुरुदेव के उपदेश/आत्म स्वरूप के कथन, पर विश्वास करना ।

दोः गुरुदेव द्वारा प्रतिपादित, शास्त्र–आगम मे उल्लिखित युक्तियो, तर्कों पर अन्तर मे गभीरता पूर्वक विचार, चिन्तन करना ।

शिष्य गुरुदेव से आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान/तर्क–युक्ति/हेतु/दृष्टातादि से सुनकर निवेदन करता है कि–**"आत्माना अस्तित्वना आपे कह्या प्रकार,"** आपने समझाया कि–"देह आत्मा नहीं, आत्म देह से भिन्न है, इन्द्रियो और प्राणो से भी भिन्न हैं । देह–इन्द्रिया–प्राण ये सब क्या है, आत्मा से अलग हैं । जीवात्मा ही उपयोगमय है, चेतन हैं, अन्य ये सब जड हैं । चेतन की चेतना से ही; ये कौन बने हुए हैं ? चेतनवत् उसीसे ही ये क्रियाशील हैं यदि चेतना बिगड जाये

तो ये सब निष्क्रिय हो जाते हैं । आत्मा मे स्व–सवेदन, ज्ञानादि स्फुरित होते है, जड मे नहीं । और दोनो का गुण/धर्म/स्वभाव भिन्न हैं, उनसे ही पृथक्ता की प्रतीति होती है, अह प्रत्यय, "मै हूँ" 'सशयकर्त्ता'–'मै हूँ या नहीं' वही आत्मा है आदि ये जो आत्मा के अस्तित्व के लिए कि 'आत्मा है उसका पृथक् अस्तित्व है' के वजूद के लिए ये आपने आलग–अलग जिस–जिस ढग से/तर्क हेतु दृष्टान्तादि से मुझे समझाया, मैने अन्तर्हृदय मे विचार किया—**"सम्भव तेनो थाय छे"** इससे यह सम्भव हुआ, मुझे समझ मे आया कि 'आत्मा' है । मात्र कहने, सुन लेने से ही वस्तु का बोध/अनुभव नहीं होता, व्यक्ति विश्वास नहीं करता । किन्तु **"अन्तर कर्ये विचार"** अन्तर मे विचार करने से, गम्भीरता से चिन्तन करने अथवा प्रतिपृच्छा/पुनः सशय निवारण के लिए पूछना/प्रश्न–प्रतिप्रश्न करने से वस्तु स्वरूप की जानकारी होती है, तत्व का बोध होता है–**"वादे–वादे जायते तत्व बोधः"—संभव तेनो थाय छे, अन्तर कर्ये विचार"** बिना विचार, चिन्तन के कोई तत्व बात हृदयगम नहीं होती। अतः हम जब अन्तर मे विचार करते हैं तो यह सभव लगता है, कि "आत्मा है।"

किन्तु गुरुदेव! धरती पर ऐसे भी व्यक्ति हैं/दृष्टिकोण हैं जो आत्मा को मानते हुए भी उसे 'अविनाशी' नित्य नहीं मानते । वे कहते है देह के साथ ही उत्पन्न होता है; देह के विलीन होने पर उसका भी अस्तित्व समाप्त हो जाता है; इसे किस प्रकार समझा जाय–इसमे क्या सच्चाई है ?

बन्धुओ! इस दृश्य जगत् मे दोनो ही प्रकार के पदार्थ/द्रव्य हैं–मूर्त्त और अमूर्त्त/रूपी–अरूपी, सूक्ष्म भी स्थूल भी । हमारी ऐन्द्रिक शक्ति सीमित है अत. मूर्त्त भी जो अति दूर या सूक्ष्म–अतिसूक्ष्म हैं दृष्टिगोचर नहीं होते और हम इन्द्रियो या देह शक्ति या अन्य उपायो से भी नही जान पाते । और विशेषत. अमूर्त्त/अरूपी पदार्थ जो चेतन/सजीव भी है, अजीव भी है नहीं जान पाते । उसका अर्थ यह नहीं है कि वह

वस्तु ही नहीं है, जो हमारे देखने मे–अनुभव मे नहीं आई । इसके ज्ञान के लिए दो उपाय हैं– एक, श्रद्धा, दूसरा तर्क आदि द्वारा जानकर चिन्तन करना । श्रद्धा है ; पूर्व पुरुषों द्वारा अनुभूत/ज्ञात वस्तु का प्रतिपादन है प्रतिष्ठा है, उनके वचनों पर/जो शास्त्रों मे सग्रहीत हैं/ भरोसा करना और विना ननुनच के क्योंकि वे ज्ञानी राग / द्वेष / अज्ञान से रहित शुद्धात्मा थे अतः उनके वचन पक्षपात से रहित होते हैं ।

"बीजी शका थाय त्यां, आत्मा नहीं अविनाश ।
देह योग थी उपजे, देह वियोगे नाश ॥६०॥"

"यहॉ दूसरी शका उत्पन्न होती है कि आत्मा अविनाशी नहीं है । यह देह योग से उत्पन्न होती है तथा देह के वियोग होने पर नष्ट हो जाती है, अत आत्मा नित्य रहने वाला पदार्थ नहीं है ।"

इस पद मे कार्य–कारण भाव को प्रस्तुत करता हुआ शिष्य कहता है–

एक : आत्मा अविनाशी/नित्य नहीं है ।

दो : देह–योग से उत्पन्न होता है और देह–वियोग से नष्ट हो जाता है ।

आओ! इस पर विस्तार से विचार करें–

पहली शका थी कि–'आत्मा है या नहीं,' अव तर्क–वितर्क से यह ज्ञात हु कि 'आत्मा है' । हम अनुभव करते हैं कि 'आत्मा है', कोई नियता है इस देह का, इन्द्रियों का । और जब वह नियता नहीं रहता उस पर नियत्रण नहीं रहता, तो ये सव निष्प्राण/निर्जीव हो जाते हैं । इससे अनुभव होता है कि जीवित और मृत मे क्या अन्तर है । उसमे चेतना का होना ही सबसे वड़ा अन्तर है । चेतना के कारण ही सव शरीर के अगोपाग आदि सर्व यथायोग्य अपना व्यापार करते हैं ।

दूसरा पद कौनसा है ? **आत्मा छे, ते नित्य छे** — वह नित्य है । लेकिन **"बीजी शका थाय त्यां"** वहाँ पर एक दूसरी शका पैदा होती है, गुरुदेव! आप जो कहते हैं कि देह विनाशी है और आत्मा अविनाशी है, अविनाशी का मतलब जिसका कभी नाश नहीं होता, यह ठीक है कि कोई व्यक्ति अपने लडके का नाम 'विनाशचन्द्र' नहीं रखता, रखता है क्या कोई ? नहीं 'अविनाशचन्द्र' रखते हैं । क्योंकि भावना 'अविनाश' की है । विनाश की कभी भावना नहीं है । किसी का किसी प्रकार का कोई कभी विनाश न हो, और यही मानवता है । किसी का जीवन कष्ट/आपदा मे हो तो कहते हैं –"भगवान सव का भला करें," "सवको साता रहे" ये क्यो है ? इसलिए कि स्वभाव से ही व्यक्ति विनाश नहीं चाहता । व्यक्ति/आत्मा अविनाशी है, अविनाशी तत्व की उपासना करता है, वह सिद्ध परमात्मा भी अविनाशी है किन्तु यहॉ एक शका पैदा हो गई कि–**"आत्मा नहीं अविनाश,"** आत्मा तो है लेकिन वह अविनाशी नहीं विनाशी है, अनित्य है यानि सदा रहने वाला नित्य नहीं है । शरीर–इन्द्रिया–प्राण अनित्य हैं, दिखाई देने वाले भौतिक ससार के रूपी/मूर्त्त द्रव्य/पदार्थ अनित्य हैं इसकी शक्ले/आकृतियॉ/अवस्थाएँ/पर्याय बदलती रहती है, फलत· आत्मा भी अविनाशी नहीं है ।

क्यों नहीं ? इसके लिए कारण दिया है शिष्य ने कि–**"देह योग थी उपजें"** देह के योग से आत्मा की उत्पत्ति हुई है । और **"देह वियोगे नाश"**– देह के वियोग/नष्ट हो जाने पर आत्मा का भी नाश हो जाता है । क्योंकि जिनके सयोग से निर्माण हुआ है तो यह स्वाभाविक है कि उसके वियोग/बिखरने से नष्ट होगी ही । 'देह' तत्वों का समवाय/सघात रूप है । जब उन तत्वों का सघात रूप बिखर जाता है तो उससे उत्पन्न हुआ तत्व/चेतना भी नष्ट हो जाता है । आपने देखा होगा, जैसे एक घडा है उसमे बबूल/कीकर की छाल, गुड, पानी डालकर उसका मुँह भली प्रकार बन्द कर भूमि मे गाडकर रख दिया जाय । कुछ काल बीतने पर वह जल मे गुडादि के घुल जाने पर सड जाता है, दुर्गन्ध आने

लगती है और जल मे मादकता उत्पन्न हो जाती है और नाना प्रकार के जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं । तो कहॉ से पैदा हुए वे ? उन गुड-पानी-बबूल की छाल के सयोजन के कारण ! और उनके नष्ट होने/वियोजन के कारण मादकता कुछ समय के बाद नष्ट हो जाती है । इसी प्रकार देह का निर्माण, पॉच तत्वो के सयोजन से हुआ है । वे पॉच तत्व हैं पृथ्वी तत्व, जल तत्व, अग्नि तत्व, वायु तत्व, और आकाश तत्व । इन पॉच तत्वो का सयोग हुआ और देह बनी/शरीर बन गया । शरीर का जहॉ निर्माण/विकास हुआ । उन तत्वो के सम्मिश्रण से ही 'चेतना' उत्पन्न होती है तथा उन भूतो/पृथ्वी आदि तत्वो के वियोग से आत्मा का भी देह के साथ ही विनाश हो जाता है, इसलिए –**"आत्मा नहीं अविनाश,"** आत्मा अविनाशी नही है, नित्य नहीं है ।

कोई प्रश्न करें कि अन्ततोगत्वा यह स्थूल देह मरने के बाद कहॉ जाता है ? क्या बनता है इसका ?–

उत्तर मे यही कि पृथ्वी मे पृथ्वी तत्व, अग्नि मे अग्नि तत्व, वायु मे वायु तत्व, जल मे जल तत्व, बिखरकर मिल जाते हैं । एक कहावत भी है कि 'देह माटी की बनी है और माटी मे मिल जाती है' । भक्त कबीरदास भी उद्बोधन करते हुए कहते है –

"मटिया खोदत मटिया बोली, तू रे कुम्हारका म्हारो संग साथी ।
चोखी–चोखी मटिया खोदले कुम्हार का, इक दिन मटिया में मिल जासी।
इक दिन म्हारे संग मिल जासी ॥"

एक उर्दू के शायर ने भी कहा है कि–

"आदमी का जिस्म क्या है, जिस पे है शैदा जहॉं,
एक मिट्टी की इमारत, एक मिट्टी का मका,
खून इसमे गारा है, और ईंट इसकी हड्डियॉं,
चंद श्वासो पर खड़ा है, यह ख्याले आस्मा,
मौत की पुरज़ोर ऑंधी, जब इसे टकरायेगी,
देख लेना ये इमारत, टूट कर गिर जायेगी ॥"

शिष्य आत्मा की नित्यता/सदा रहनेवाली अवस्था के प्रति शका प्रकट करते हुए गुरुदेव से पुनः निवेदन करता है –।

"अथवा वस्तु क्षणिक छे, क्षणे-क्षणे पलटाय ।
ए अनुभव थी पण नहीं, आत्मा नित्य जणाय ॥६१॥

"आत्मा देह योग से उपजी और देह के वियोग से नष्ट हो जाने वाली है अथवा "वस्तु क्षणिक है" वह क्षण-क्षण मे परिवर्तित होती है, वदलती रहती है, इस अनुभव से देखते हुए भी आत्मा 'नित्य' प्रतीत नहीं होता, ज्ञात नहीं होता ।"

इस पद मे 'आत्मा के नित्य न होने का' तर्क प्रस्तुत किया है–

एक : वस्तु क्षणिक है, वह क्षण-क्षण मे वदलती रहती है । इस अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि आत्मा 'नित्य' नहीं है ।

आओ! वन्धुओं, शिष्य की शका पर तनिक विस्तृत विचार-चर्चा कर ले ।

शिष्य के कथनानुसार यह वस्तु/पदार्थमय ससार है । इसमे कितनी ही वस्तुएँ हैं । आत्मा भी एक पदार्थ है, वस्तु है, शै है । हम देख रहे हैं ससार मे कि वस्तुएँ क्षणिक हैं, क्षण-क्षण मे क्षरित होती है, ये वनती हैं और विगड जाती है, टूट जाती हैं, नष्ट हो जाती हैं, तो **"'क्षणे-क्षणे पलटाय "**, वह क्षण-क्षण मे वदलती रहती है । उदाहरणत जैसे- कपडा, कपडे को यदि ट्रक/पेटी मे सुरक्षित रखे, भले ही उसका इस्तेमाल/प्रयोग न करें-उसको पहने-ओढें मत, लेकिन कुछ काल के वाद देखेगे, कपडे की पर्याय वदल गई हैं । क्यो ? इसलिए कि काल वरतता है । काल का स्वभाव ही वर्त्तना है, उसके निमित्त से वस्तु नई से पुरानी और पुरानी से नई होती रहती है । आगम मे **"वत्तणा लक्खणो कालो "**, कहा है ।

वर्त्तना क्या है ? "यह काल द्रव्य का उपकार/कार्य है ।"प्रत्येक द्रव्य/पदार्थ अपनी शक्ति से पर्याय/अवस्था विशेष

मे परिणमन करता है, नई-नई पर्याय धारण करता है, किन्तु काल उसमे निमित्त कारण बनता है । यही वर्त्तना है, इसी से पदार्थ/वस्तु को 'क्षणिक' **क्षणे-क्षणे पलटाय** कहा है ।

आगम मे इस 'क्षणिक वाद' का उल्लेख शाक्य भिक्षु/तथागतबुद्ध के दृष्टिकोण के रूप मे हुआ है । यह अफलवादी दर्शन है ।* 'किसी भी क्रिया का फल नहीं है,' जो ऐसा कहते हैं वे अफलवादी हैं ।

"पच खंधे वयतेगे, बाला उ खण जोइणो ।
अण्णे अणण्णो णेवाहु, हेउय च अहेउयं ॥**

"कोई-कोई अज्ञानी (बौद्ध) कहते हैं - क्षणमात्र स्थित रहने वाले पॉच स्कन्ध ही हैं । उनसे भिन्न या अभिन्न, कारण से उत्पन्न होनेवाला आत्मा नामक पदार्थ नहीं है ।"

पॉच स्कन्ध - रूप, वेदना, विज्ञान, सज्ञा और सस्कार ।

- पृथ्वी आदि धातु तथा रूपादि रूप स्कन्ध है ।
- सुखा, दुखा, अदुखसुखा वेदना, वेदना स्कन्ध है ।
- रूप विज्ञान, रसविज्ञान आदि विज्ञान स्कन्ध है ।
- वस्तु का बोधक शब्द सज्ञा स्कन्ध है ।
- पुण्य-पाप धर्म समुदाय सस्कार स्कन्ध है ।

हॉ, तो मै कह रहा था कि जब काल वर्त्तता हो, हर चीज को जीर्ण-शीर्ण करता रहता है, यह अनुभव मे भी आता है, फलत जैसे वस्तुऍ क्षण-क्षण मे बदलती हैं, तो **"ए अनुभव थी पण नहीं, आत्मा नित्य जणाय"**, इस अनुभव के आधार पर भी कहा जा सकता है कि आत्मा 'अनित्य है । और वस्तु का 'पलटना' परिवर्तन क्या है ? वस्तु का बदलना है उसके वर्ण-गन्ध-रस-रूप और स्पर्श आदि मे तबदीली आना है । यही वस्तु/पदार्थ की

---

* अफलवादी - सूत्र निर्युक्ति ३० गा

** सूत्र कृताग १/१/१/१८ गा.

जीर्णता–शीर्णता है । इसी प्रकार जो आत्मा है उसमे भी परिवर्तन आएगा। परिवर्तन आते रहने से एक दिन वस्तु/पदार्थ समाप्त होगा ही, इसलिए आत्मा भी विनाश को प्राप्त होगा ही अत. आत्मा अविनाशी नहीं है ।

इसी क्षणिकवादी दर्शन की मान्यता है कि पृथ्वी, जल, तेज और वायु, ये चार धातु के रूप हैं । ये चारों जव शरीर रूप मे परिणत होते हैं, तब यही ' जीव '/'आत्मा ' कहलाने लगते है । अर्थात् इन चार धातुओं से भिन्न 'आत्मा पदार्थ' नहीं है ।×

"पुढ़वी आऊ य तेऊ य, तहा वाऊ य एगो ।
चत्तारि धाउणो रूवं, एवमाहंसु आवरे ।"

आगम मे भी, आत्मा के नित्यत्व का निषेध करने वाले "नास्तिकदर्शन/चार्वाक मत/तज्जीवतच्छरीरवाद का उल्लेख करते हुए कहा है –

"सति पंच महब्भूया, इह मेगेसिमाहिया ।
पुढ़वी–आऊ–तेऊ वा, वाउ आगास पंचमा ॥"*

अर्थात् यहाँ जगत मे पॉच महाभूत हैं – पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश, ऐसा यहाँ कोई एक कहते हैं । वृहस्पति मतानुयायी चार्वाक कहते हैं कि धरती पर पॉच महाभूत हैं । इनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, भूत ही सक्रिय हैं । इनसे यानि इन पॉच भूतों के सयोग से एक की उत्पत्ति होती है । वह एक क्या है ? "चेतना है" । तथा इन महाभूतो के विसर्जन से/विनाश होने पर उस 'एक' का/चेतना का भी विनाश हो जाता है । देखिए मेरी ओर, ध्यान से सुनियेगा। –

"एए पंच महब्भूया, तेब्भो एगो त्ति आहिया ।
अह तेसि विणासे ण, विणासो होई देहिणो ॥"

× सूत्र कृताग १/१/१/१७ गा.
* सूत्रकृताग १/१/१/७–८

इस दृष्टिकोण के अनुसार 'चेतना' का स्वतत्र अस्तित्व नहीं है । देह/शरीर के निर्माण के साथ ही भूतों के सघात से 'चेतना' उत्पन्न हो जाती है और इनके नष्ट होने के साथ ही विनाश को प्राप्त हो जाती है । यह नित्य/शाश्वत/अविनाशी तत्व नहीं है । फलत यह दर्शन/दृष्टिकोण परलोक से आने वाला, परलोक जाने वाला, सुख-दु ख को भोगने वाला जीव/आत्मा नाम का स्वतत्र/शाश्वत/अविनाशी तत्व नहीं है । जब उनसे मृत्यु के वारे मे प्रश्न किया जाय तो वे कहते हैं – इन पॉच भूतों के नष्ट होने पर उस चेतना का भी विनाश हो जाता है । इसीलिए कहावत बनी है – **"आप मर्या जग परलौ,"** अर्थात् अपने मरणोपरान्त जगत मे प्रलय ही है, और क्या है ? शाश्वत क्या है ? आगम मे एक अन्य दृष्टिकोण/नजरिये का भी उल्लेख मिलता है कि पॉच भूत हैं जो शरीराकार मे परिणत होते हैं तो उससे आत्मा की उत्पत्ति होती है । प्रत्येक शरीर मे आत्मा अलग-अलग हैं । जगत् मे जो ज्ञानी और अज्ञानी लोग हैं वे अलग-अलग हैं । किन्तु मरने के पश्चात् आत्मा का अस्तित्व नहीं रहता । परलोक मे जाने वाला कोई नित्य पदार्थ नहीं है । न पुण्य है, न पाप है, इस लोक के अतिरिक्त परलोक भी नहीं है । ** इस दृष्टिकोण का नाम "तज्जीवतच्छरीरवाद" है ।

> **"पत्तेय कसिणे आया, जे बाला जे अ पडिया ।**
> **सति पिच्चा न ते सति, नत्थि सत्तोववाइया ॥**
> **णत्थि पुण्णे वा पावे वा, णत्थि लोए एतोऽवरे ।**
> **सरीरस्स विणासेण, विणासो होइ देहिणो ॥"**

भूतवादी एव तज्जीवतच्छरीरवादी दर्शन मे अन्तर क्या है ? जब कि दोनों पच भूतों को ही स्वीकार करते हुए प्रत्येक क्रिया का आधार भूतो को ही मानते हैं । उनके अतिरिक्त कोई स्वतत्र 'आत्मतत्व' नहीं है ।

यह ठीक है, किन्तु दोनों में अन्तर मात्र इतना ही है "तज्जीवतच्छरीरवादी" पॉच भूतो का शरीराकार मे परिणत होने

** वही ११-१२ गा.

पर उसमे एक 'आत्मा' की अभिव्यक्ति/उत्पत्ति मानते हैं । यही अन्तर है । किन्तु शरीर के नष्ट हो जाने के वाद आत्मा भी नष्ट हो जाती है क्योंकि इसकी उत्पत्ति शरीर/भूतों के समवाय से हुई है, उसके अभाव मे आत्मा का सद्भाव कैसे सभव है ? जैसे जल वुद्-वुद् जल के अभाव मे नहीं रहता, कदली वृक्ष के स्तम्भ के वाह्य त्वचा/छिलके को उतारने पर उसमे कुछ भी शेष नहीं रहता ।

भूतवादी-'चार्वाक तथा तज्जीवतच्छरीरवादी' के अतिरिक्त एक और दर्शन है/दृप्टिकोण है "आत्मषष्ठ वाद", इसकी मान्यता है कि "पॉच महाभूत" हैं तथा छठा 'आत्मा' है । "आत्मा और लोक" नित्य हैं । ये दोनों/आत्मा तथा पाँच भूत सहेतु, अहेतुक विनाश से विनष्ट नहीं होते अतः सर्व पदार्थ सर्वथा नियत हैं । असत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती ।"

यह सहेतुक-निर्हेतुक क्या है ?

दण्ड आदि के सयोग से घट आदि का विनाश होना सहेतुक है तथा विन। हेतु/कारण निमित्त के अभाव से नष्ट होना अहेतुक है ।

'संति पंच महब्भूया, इहमेगेसिं आहिया ।
आय छट्ठो पुणो आहु, आया लोगे य सासए ॥
दुहओ ण विणस्संति, नो य उपज्जए असं ।
सव्वे वि सव्वहा भावा, नियति भावमागया ॥' +

इस प्रकार आत्मा के 'नित्य अविनाशी' होने मे शका प्रकट की गई है ।

अन्तिम मंगलः अरिहन्त मंगल...। चत्तारि मंगल...।

शुक्रवार
२३ सितम्वर '८८

गुलाव सदन
१९ बर्टन रोड, वोलारम-१०
सिकदरावाद

+ वही, १५-१६

२

" ते नित्य छे "

समाधान

"देह मात्र सयोग छे, वली जड़, रूपी, दृश्य ।
चेतनना उत्पत्ति-लय, कोना, अनुभव वश्य ॥"

•

"जे सयोगो देखिए, ते ते अनुभव दृश्य ।
उपजे नहीं सयोग थी, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष ॥"

— श्रीमद्रायचन्द्र

६२ से ७० पद

आत्मा नित्य प्रत्यक्ष : समाधान

श्रीमद् रायचन्द्र ने "आत्मा सिद्धि शास्त्र" मे गुरु-शिष्य-सवाद के माध्यम से "आत्मा है" आदि छह पदो की विस्तार पूर्वक चर्चा करके प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम के प्रमाणों एव स्वय के अनुभव द्वारा उनकी 'सिद्धि' की है । यानि उन छह पदों का अस्तित्व एव स्वरूप प्रतिपादित किया है । जनसाधारण, सामान्य बुद्धि अथवा अध्यात्म ज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति के लिए यह सवाद अति उपयोगी है ।

सूत्रकृताग आगम मे भी **"सरीरस्स विणासेणं विणासो होई देहिणो ।"**0 का सिद्धात एव अन्य भी तथा प्रवचनसारोद्धार, विशेषावश्यक भाष्य आदि अर्थागम मे इन छह पदों का विस्तार से उल्लेख मिलता है ।

भगवान महावीर और महापडित गणधर वायुभूति के प्रश्न -उत्तर कि, **"जीव चाहे शरीर से भिन्न सिद्ध हो जाय, फिर भी शरीर के समान क्षणिक होने के कारण वह शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है । अतः उसे शरीर से भिन्न सिद्ध करने में क्या लाभ है ?"** उपलब्ध होते हैं । प्रभु ने आत्मा का 'नित्यत्व' सिद्ध करते हुए कर्म और उसका फल, पुनर्जन्म, लोक-परलोक की बात कही है । आत्म तत्व को अविनाशी/नित्य मानने मे ही इनका/स्वभाव-विभाव परिणति का/सद्भाव रहता है ।

अव गुरुदेव शिष्य को आत्मा के नित्य/सर्व कालीन अस्तित्व को समझाते हुए कहते हैं -

"देह मात्र सयोग छे, वली जड़-रूपी दृश्य ।
चेतनना उत्पत्ति-लय, कोना अनुभव वश्य ॥६२॥"

-"अर्थात् देह/शरीर परमाणुओं का सयोग/सघात रूप है तथा आत्मा के साथ सम्बन्ध मात्र है । वह/देह

---

0 चार्वाक दर्शन, सूत्र १/१/१/१६

जड/अचेतन/अजीव/रूपी/मूर्त्त–आकार–रगादि युक्त तथा दृश्य/दिखाई देने वाला है । द्रष्टा का विषय है, फिर चेतन/आत्मा की उत्पत्ति/पैदायश और लय/विलीन होने, बिखर जाने का अनुभव किसके वश है ? अर्थात् आत्मा/जीव के अभाव मे यह अनुभव कैसे हो सकता है ।"

इस पद मे दो बाते विचारणीय हैं –

एक – देह सयोग मात्र रूपी, जड और दृश्य है ।
दो – चेतन की उत्पत्ति और लय का अनुभव किसे होता है ?

गुरुदेव ने शिष्य की उस शका का अथवा देह के सबन्ध मे मान्यता/तर्क कि **"देह योग थी ऊपजे, देह वियोगे नाश ।"**— देह/शरीर के जन्म के साथ आत्मा की उत्पत्ति होती है, देह नाश के साथ ही आत्मा का नाश हो जाता है, इसलिए ***"आत्मा नहिं अविनाश –"*** आत्मा अविनाशी नहीं है, का समाधान किया है । शरीर/देह–निर्माण औदारिक वर्गणा के पुद्गुल–परमाणुओ के सयोग से बना हुआ है । ये परमाणु जड/अजीव हैं, वर्ण–गन्ध–रस–स्पर्श गुण से युक्त होने से रूपी/मूर्त्त/दृश्य, दिखाई देने वाला है । क्योकि यह परमाणु–सयोग–देह, इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य है ।

ऑख इसमे रहे वर्ण–रग को देखती है, नासिका इसके गन्ध को सूघती है, रसना इसमे रस तत्व को ग्रहण करती है और त्वग्इन्द्रिय इसके कठोर–नम्र, कोमल–कर्कश/ खरखरा, उष्ण–शीत स्पर्श को ग्रहण करती है । अत यह रूपी दृश्य है । ऐसे जड शरीर का आत्मा के साथ सायोगिक सम्बन्ध है ।

यहाँ 'दृश्य' शब्द पर ध्यान देना है । यह 'द्रष्टा' का विषय है । 'दृश्य' देखने योग्य और दृष्टा देखने वाला । यह देह जो जड है—स्वय से स्वय को नहीं जानता तो 'चेतन '–चेतन गुण–धर्म–स्वभाव वाले आत्म द्रव्य की उत्पत्ति और लय/विनाश को कैसे जान पायेगा ? क्योकि देह परमाणु

सघात है, स्थूलादि परिणाम वाला है । तथा चेतन सवेदनशील है, द्रष्टा है/अरूपी है/अमूर्त्त है तो फिर वह उससे/देह से/जड़ से कैसे उत्पन्न हुआ और देह के साथ कैसे नष्ट हुआ ? तथा यह वात कि, 'देह से उत्पत्ति और विनाश,' का अनुभव किसको हुआ ? यह किसने जाना ? जड़ ने या चेतन ने ? क्योंकि ज्ञाता/जाननेवाला देह से पहले नहीं था, और नाश देह का पहले होता है, एक भूत तत्व के विलीन होते ही विनष्ट हो जाता है तो फिर यह 'उत्पत्ति और विनाश' का ज्ञाता कौन है ?

अर्थात् जो स्वय को नहीं जानता, वह दूसरे को क्या जान पायेगा ? "मेरे से चेतन उत्पन्न हुआ है और मेरे न रहने पर 'चेतन' भी नष्ट हो जायेगा" – यह जड़ देह किस प्रकार जान गई ? क्योंकि परमाणु पुद्गल है, जड़ है । जड से चेतन की उत्पत्ति सभव नहीं होती । क्योंकि दोनो के स्वभाव/गुण/धर्म मे अन्तर है । 'मै और मेरा' अह प्रत्यय तथा मेरा सम्वन्ध वाचक है, दूसरी वस्तु का, पदार्थ का सम्वन्ध प्रकट करता है, जोड़ता है । इसी प्रकार 'देह' और 'देही' शव्द भी भिन्न अर्थ के द्योतक है ।

यदि यह कहा जाय कि 'उत्पत्ति और लय' का ज्ञाता/जाननेवाला 'चेतन ही है, चेतना से ही जाना जाता है तो 'चेतन' का देह से भिन्न और नित्य 'अस्तित्व' सिद्ध हो गया । **"उपजे नहीं सयोगथी, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष"** ।

बन्धुओ! तत्वदृष्टि से, युक्ति से स्पष्ट हैं, सिद्ध है कि 'आत्मा' देहयोग से उत्पन्न नहीं होता, न ही नष्ट होता है । 'आत्मा' सदावहार है, नित्य है शाश्वत है, अविनाशी है । इसी तत्व को समझाते हुए गुरुदेव कहते हैं –

"जेनां अनुभव वश्य ए, उत्पन्न लय नुं ज्ञान ।
ते तेथी जूदा विना, थाय न केमें भान ॥६३॥"

"जिसको देह की उत्पत्ति और लय का ज्ञान अनुभव मे है, उसको/जिसको यह अनुभव है, उससे/देह से उत्पत्ति–लय

से पृथक् माने बिना उत्पत्ति-लय का भान होना सभव नहीं अर्थात् उसका भान/अनुभव किस प्रकार हो सकता है ? अर्थात् "नहीं हो सकता " ।

इस पद मे दो तथ्य उजागर हुए हैं –

एक – उत्पत्ति और लय के ज्ञान का अनुभव है जिसको । वह तत्त्व पृथक् है ।

दो – उस अनुभव-ज्ञाता को पृथक माने विना, जिसकी उत्पत्ति और लय है उससे ज्ञान किस प्रकार हो सकता है ? क्योंकि जड़ वस्तु तो बोध रहित है, चेतना रहित है ।

शिष्य को स्पष्ट वोध कराने हेतु गुरुदेव ने पुन इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि देह की "उत्पत्ति और उसका लय" का ज्ञान जिसके अनुभव मे वर्त रहा है, यदि वह उस देह से पृथक् न हो तो किसी प्रकार भी यह "उत्पत्ति-लय" का अनुभव नहीं हो सकता, अत वह उससे/दृश्य से द्रष्टा पृथक् ही है, क्योंकि 'उत्पत्ति-लय' स्थिर नहीं है किन्तु ज्ञाता/द्रष्टा स्थिर है । फिर दोनो की एकरूपता किस प्रकार हो सकती है ? अर्थात् नहीं होती ।

अव गुरुदेव पुन **"देह योग थी ऊपजे"** का निराकरण करते हुए कहते हैं कि –

"जे संयोगो देखिए, ते ते अनुभव दृश्य ।
उपजे नहीं सयोग थी, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष ॥६४॥"

–"अर्थात् जो देहादि के सयोग द्वारा दिखते हैं यानि सयोग-परिणाम हैं, वे-वे अनुभव स्वरूप आत्मा के दृश्य हैं, विषय हैं यानि आत्मा/चेतन ही उनका/देह धर्म-गुण-स्वभाव का अनुभव करता है, जानता है ।"

"आत्मा सयोग से उत्पन्न नहीं होता, आत्मा नित्य है, प्रत्यक्ष मे अनुभव होता है ।"

जगति तल पर जो–जो देहादि सायोगिक पदार्थ दिखाई देते हैं, अनुभव मे आते हैं, वे सभी आत्मा द्वारा दृष्ट हैं, अनुभूत हैं । आत्मा से भिन्न दूसरा कोई उनका ज्ञान या अनुभव नहीं कर सकता । क्यों ? इसलिए कि ये सब सायोगिक हैं, पुद्गुल–परमाणुओं के सयोग–सघात रूप हैं, निर्मित हैं । इन सयोगों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि आत्मा इन परमाणु–सयोग से उत्पन्न नहीं हुआ –**"उपजे नहीं सयोग थी,"** किसी प्रकार के सयोग अथवा सर्व सयोगों का अनुभव/ज्ञान करने वाला आत्मा ही है और वह इनसे पृथक् है ही, 'प्रत्यक्ष नित्य' अनुभव मे आता है –**"आत्मा नित्य प्रत्यक्ष"** क्यो ? इसलिए कि यदि किसी भी सयोग की कल्पना करें कि आत्मा इसके सयोग से उत्पन्न हुआ है तथापि वह कल्पना/अनुमान/अनुभव करने वाला भी अन्य है, उससे न्यारा है, वह कौन है ? आत्मा ही है । इसलिए आत्मा असयोगी है, किसी पदार्थ के सयोग से उत्पन्न नहीं हुआ है, वह स्वाभाविक पदार्थ है । क्योकि यह भी एक नियम है–

"जड़ थी चेतन ऊपजे, चेतन थी जड़ थाय ।
एवो अनुभव कोई ने, क्यारे कदी न थाय ॥६५॥

अर्थात् "जड से चेतन उत्पन्न होता है" और "चेतन से जड होता है" ऐसा अनुभव किसी को कभी, कहॉ भी नहीं हुआ ।"

इस पद मे दो सिद्धातों का निरूपण हुआ है–

एक – जड से चेतन की उत्पत्ति नहीं होती,
दो – चेतन से कभी जड की उत्पत्ति नहीं होती,

गुरुदेव ने जड और चेतन पदार्थो के पृथक् अस्तित्व को सिद्ध करने तथा सयोग से उत्पन्न होने की मान्यता का निरसन करते हुए यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि जड से चेतन/आत्मा/जीव – उत्पत्ति सभव नहीं है और चेतन से जड अजीव की । क्यो नहीं ? इसलिए कि वह विजातिय

पदार्थ हैं सजातीय नहीं । फिर ये दोनों तो अपने-अपने पृथक् गुण-धर्म वाले पदार्थ हैं । ये तीन काल मे भी अपने मूल स्वरूप/गुण-धर्म को छोडनेवाले नहीं है ।

सदा काल जड़-जड ही रहता है, चेतन, चेतन ही । **"जीवःप्रकृति अनादय"** के अनुसार ये अनादि हैं, नित्य हैं, निजस्वरूप मे ही स्थित रहते हैं यानि अपने गुण-धर्म को कदापि नहीं छोडते ।

"कोई संयोगो थी नहीं, जेनी उत्पत्ति थाय ।
नाश न तेनो कोई मां, तेथी नित्य सदाय ॥६६॥"

"किसी सयोग से जिसकी उत्पत्ति नहीं है/होती, उसका नाश भी किसी मे अर्थात् किसी कारण से नहीं होता । इसलिए/इसी कारण से 'आत्मा' सदा ही/सर्वकाल मे 'नित्य' है, अविनाशी है ।"

वन्धुओं! गुरुदेव ने सिद्धान्त का निरूपण करते हुए कहा है, शिष्य को समझाया है ज्ञान दिया है कि -"जो वस्तु या पदार्थ किसी सयोग से उत्पन्न नहीं होता, उसका 'लय' विनाश किसी दूसरे पदार्थ मे यानि अन्य पदार्थ से परिवर्तन आदि नहीं होता ।" क्योंकि वह अपने स्वभाव/गुण-धर्म से ही सिद्ध है, अनादि है । यदि वह किसी अन्य पदार्थ मे 'लय' विनाश या परिवर्तित हो जाता है तो उसकी उत्पत्ति भी उसी से माननी पडेगी । अन्यथा 'लय' की एकरूपता सिद्ध नहीं होगी । देह सयोग से वनी है । देह औदारिकादि वर्गणा/परमाणुओ के संघात से वनी है, उत्पन्न हुई और परमाणुओं के विखरने पर पुन· स्व-स्व-पुद्गल-वर्गणा मे लय हो जाती है । किन्तु चेतन 'आत्मा' के वारे ऐसा नहीं है । यह स्वतत्र द्रव्य है, शाश्वत है, नित्य है क्योकि इसका नाश ही नहीं है - **"नाश न तेनो कोई मां, तेथी नित्य सदाय"** ।

श्रीमद् ने लिखा है—"जे चेतना छे ते कोई दिवस अचेतन थाय नहीं, जे अचेतन छे ते कोई दिवस चेतन थाय नहीं ।"

"चेतन नी उत्पत्ति ना कइ पण सयोगों देखता नथी, तेथी चेतन अनुत्पन्न छे । ते चेतन विनाश पामवानो कई अनुभव थतो नथी, 'माटे अविनाशी छे । नित्य अनुभव स्वरूप होवा थी, नित्य छे । समये-समये परिणामान्तर थवा थी अनित्य छे। स्वरूपनो त्याग करवाने अयोग्य मूल द्रव्य छे ।"*

देहात्मवादियो का यह सिद्धान्त कि -"आत्मा की उत्पत्ति देह के साथ ही हुई है और देह के विनाश के साथ उस चेतना या 'आत्मा' का भी 'लय' हो जाता है । वह नित्य रहनेवाला स्वतत्र तत्व नहीं है ।" उनका तर्क है कि "पृथ्वी जल, तेज और वायु, इन चार भूतो के समुदाय से चेतना उत्पन्न होती है जिस प्रकार मद्य के प्रत्येक पृथक्-पृथक् अग (अवयव) जैसे कि धातकी के फूल, गुड, पानी इन मे किसी मे भी मदशक्ति दिखाई नहीं देती, फिर भी इन सबका समुदाय बन जाता है तब उनमे से मद-शक्ति की उत्पत्ति साक्षात् दिखाई देती है । उसी प्रकार यद्यपि पृथ्वी आदि किसी भी भूत मे चैतन्य शक्ति दिखाई नहीं देती, तथापि जब उनका समुदाय होता है तब चैतन्य का प्रादुर्भाव प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो जाता है ।"

चैतन्य के 'लय'-विनाश बारे मे उनका कहना है कि - "जिस प्रकार मद के पृथक्-पृथक् अवयवो मे मद-शक्ति अदृष्ट है, किन्तु उनका समुदाय होने पर वह उत्पन्न हो जाती है और कुछ समय तक स्थिर रहकर कालान्तर मे विनाश की सामग्री उपस्थित होने पर विनष्ट भी हो जाती है, उसी प्रकार प्रत्येक भूत मे चैतन्य अदृष्ट है किन्तु समुदाय होने पर चैतन्य की उत्पत्ति होती है और कुछ समय तक विद्यमान रहने के बाद कालान्तर मे विनाश की सामग्री का आविर्भाव होने पर चैतन्य भी नष्ट हो जाता है । इससे यह प्रमाणित होता है कि चैतन्य भूतो का धर्म है ।"

विशेष (गणधर वायुभूति गौतम को पूर्व अवस्था मे यह सशय था कि "जीव शरीर से भिन्न है या अभिन्न ?" उसका निवारण प्रभु श्रमण भगवान ने किया था । विशेषावश्यक

---

* हाथनोध १/५५, १/५९

भाष्य का 'गणधरवाद' मे इसकी विस्तृत चर्चा है। गुजराती के लेखक प. श्री दलसुख मालवणिया जी तथा हिन्दी अनुवाद प्रोफसर श्री पृथ्वीराज जैन अम्बाला (पजाव) द्वारा किया गया है । इसके अतिरिक्त सूत्रकृताग सूत्र के प्रथम स्कन्ध, प्रथम अध्ययन मे भी प्रभु श्रमण भगवान ने 'आत्मा' की मान्यता सम्बन्धी चर्चा की है । आचार्य शिलाक की सस्कृत टीका तथा निर्युक्ति गाथाओ मे विभिन्न दृष्टिकोणों का उल्लेख करते हुए उनका निराकरण किया है ।)

प्रभु, श्रमण भगवान ने वायुभूति को समाधान दिया कि –"तुम्हारा यह सशय अयुक्त है, क्योंकि चैतन्य भूतों के समुदाय मात्र से उत्पन्न नहीं हो सकता । वह स्वतन्त्र है । क्योकि प्रत्येक भूत मे उसकी सत्ता नहीं है । जिस वस्तु का प्रत्येक अवयव मे अभाव हो, वह समुदाय से भी उत्पन्न नहीं हो सकती । जैसे रेत के प्रत्येक कण मे तेल नहीं है, इसलिए रेत के समुदाय से भी तेल नहीं निकलता । इसी प्रकार पृथ्वी आदि अलग–अलग भूतो मे चैतन्य न होने के कारण भूत समुदाय से भी चैतन्य की उत्पत्ति सभव नहीं है। जो कुछ समुदाय से उत्पन्न हो सकता है, वह प्रत्येक मे सर्वथा अनुपलब्ध नहीं हो सकता । यदि तिलों के समुदाय से तेल की प्राप्ति होती है तो प्रत्येक तिल मे भी वह उपलब्ध है । किन्तु चेतना प्रत्येक भूत मे उपलब्ध नहीं होती, अतः उसे भूत समुदाय से प्रादुर्भूत नहीं माना जा सकता । 'परन्तु अर्थापत्ति से यह माननी चाहिए कि भूत–समुदाय से सर्वथा भिन्न कोई ऐसा कारण उस समुदाय से सम्बद्ध है जिसके कारण उस समुदाय द्वारा चेतना आविर्भूत होती है । इसीलिए जीव देह से भिन्न है ।"

वायुभूति ने पुन: अपनी मान्यता का तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा कि, "मद्य के अगों मे प्रत्येकावस्था मे मद की उपलब्धि नहीं होती । किन्तु समुदायावस्था मे मद की उत्पत्ति हो जाती है, इसी प्रकार प्रत्येक भूत मे चैतन्य की अनुपलब्धि होने पर भी वह भूत–समुदाय से उत्पन्न हो सकता है । भूत से भिन्न कारण मानने की आवश्यकता नहीं रहती ।"

श्रमण भगवान ने युक्ति से पुन दोहराया कि "तुम्हारा यह कहना अयुक्त है कि मद्य के प्रत्येक अग मे प्रत्येकावस्था मे मद अनुपलब्ध हैं । वस्तुत धातकी के फूल, गुड आदि मद्य के प्रत्येक अग मे मद की न्यून या कुछ अधिक मात्रा विद्यमान है ही, इसीलिए वह समुदाय मे उत्पन्न होती है । जो प्रत्येक मे न हो, वह समुदाय मे भी सभव नहीं ।"

वायुभूति ने पुन कहा –"भूतो मे मद्य के अगो के समान प्रत्येक मे भी चैतन्य की मात्रा है, अत वह समुदाय मे उत्पन्न होती है, इस बात को मानने मे क्या आपत्ति है ?"

"यह बात मानी नहीं जा सकती, क्योकि मद्य के प्रत्येक अग मे मद–शक्ति दिखाई देती है, जैसे धातकी के फूल मे चित्त भ्रम करने की, गुड, अगूर, गन्ने के रस आदि मे तृप्त करने की और पानी मे प्यास शान्त करने की शक्ति है । यदि प्रत्येक भूत मे चैतन्य–शक्ति का सद्भाव हो तो वह समुदाय मे भी प्रकट हो, किन्तु प्रत्येक भूत मे वैसी कोई शक्ति मद्यागो के समान प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती, अत यह नहीं कहा जा सकता कि भूत समुदाय मात्र से चैतन्य उत्पन्न होता है ।"

–"मद्य के प्रत्येक अग मे भी यदि मद–शक्ति न माने तो क्या दोष है ?"

–"यदि भूतो मे चैतन्य के समान मद्य के भी प्रत्येक अग मे मद–शक्ति न हो तो फिर यह नियम नहीं बन सकता कि मद्य के धातकी के फूल आदि कारण है और अन्य पदार्थ उसके कारण नहीं है । न ही यह व्यवस्था स्थिर रह सकती है कि इस कारण समुदाय से मद उत्पन्न होता है और इसमे नहीं । कोई भी राख, पत्थर, छाणे आदि वस्तुएँ भी मद का कारण बन जायेगी और किन्हीं चीजों के समुदाय से भी मद की उत्पत्ति हो जायेगी, किन्तु ऐसा नहीं होता । अत मद के प्रत्येक अग मे मद–शक्ति माननी ही चाहिए ।"

–"तुम्हारा यह कथन असिद्ध है कि केवल भूतो के समुदाय से चैतन्य उत्पन्न होता है, क्योंकि उस समुदाय मे केवल भूत ही नही है किन्तु आत्मा भी है, उसी से ही

भूतों के समुदाय मे चैतन्य प्रकट होता है । कारण यह है कि चैतन्य समुदायान्तर्गत आत्मा का धर्म है । तुम जिसे भूत समुदाय कहते हो, यदि उसमे आत्मा का समावेश न हो तो चैतन्य कभी प्रकट नहीं हो सकता । भूतों के समुदाय मात्र से चैतन्य प्रकट हो जाता हो तो मृत शरीर मे भी उसकी उपलब्धि होनी चाहिए ; किन्तु उसमे चैतन्य का अभाव स्पष्ट सिद्ध है । अतः चैतन्य को भूत मात्र से उत्पन्न नहीं माना जा सकता ।"

वायुभूति ने कहा – "कि मृत शरीर मे वायु नहीं है, अग्नि नहीं है अतः वह सर्व भूतों का समुदाय नहीं होता इसलिए चैतन्य का अभाव है ।"

श्रमण भगवान ने "मृत शरीर मे नली द्वारा वायु-प्रवेश कराने तथा अग्नि की पूर्ति की बात कही, तथापि मृत शरीर मे चैतन्य की उपलब्धि नहीं होती ।" इसके लिए वायुभूति ने –"एक विशिष्ट प्रकार के वायु और अग्नि की बात कही कि इनके अभाव मे शरीर/शव मे चैतन्य की प्राप्ति नहीं होती ।"

श्रमण भगवान ने पुन. प्रतिपादित किया कि –"वह वैशिष्ट्य कोई नहीं किन्तु आत्मा सहित वायु और अग्नि हो तो वे विशिष्ट वायु और अग्नि कहलाती है । इस प्रकार तुमने दूसरे शव्दों मे आत्मा का ही प्रतिपादन किया है ।"

वन्धुओ! इस सवाद से यही निष्कर्ष निकलता है कि 'आत्मा' चैतन्य-शक्ति किसी भौतिक पदार्थ के सयोजन से नहीं उत्पन्न हुआ । यह स्वतन्त्र, असयोगी है अतः 'नित्य' है । देह जड है, आत्मा चेतना गुण/शक्ति वाला है । देह आत्मा का कर्म सयोग सम्वन्ध है । इसे हम पृथक् या 'नित्य' इस प्रकार भी समझ सकते हैं, जैसे किसी भवन, घर मे कृत्रिम विद्युत/विजली की फिटिग हुई है,—उसमे वॉयर/तार, प्लग, होल्डर, शॅू, स्विच, मेनस्विच, किटकेट, वल्व, ट्यूव, हीटर, फैन, मशीन, फ्रिज आदि उपकरण सब यथा स्थान हैं किन्तु 'करन्ट /विद्युत-तरग' यदि वॉयर मे नहीं है तो सव निरर्थक रहते है । दूरदर्शन, आकाशवाणी आदि भी विद्युत तरग के अभाव मे अपना काम नहीं करते, ध्वनिवर्धक यत्र भी बिना

करन्ट के मौन रहता है । ठीक इसी प्रकार पॉच भौतिक पदार्थो से निर्मित शरीर/इन्द्रियॉ/प्राण भी चेतन/आत्मा/जीव के बिना, इसके अभाव मे अपना काम नहीं करते । क्यो ? इसलिए कि वे तो जड है/निर्जीव हैं/पौद्‌गलिक हैं । ये मात्र यन्त्र हैं/इन्सट्रूमेन्ट है, इन्हें प्रयोग करने वाला /इस्तेमाल करने वाला कोई अन्य है । जिस प्रकार लुहार अपने औजार/हथौडा-रेती-छैणी आदि के प्रयोग से लोह को घडता है, इसी प्रकार चेतन/आत्मा भी शरीर-इन्द्रियॉ-प्राण के माध्यम से जीवन जीता है, क्रियाएँ करता है ।

यदि पॉच या चार भूतो के विशिष्ट सयोजन को चैतन्य का कारण माने तो जीवन का कारण क्या होगा ? पच भूतो का विशिष्ट सयोजन यदि जीवन का एक कारण हो तो सबका जीवन समान आयुवाला होना चाहिए, परन्तु सर्व जीवो का आयुष्य एक जैसा नहीं दिखाई देता, विभिन्न प्रकार का – ह्रस्व, दीर्घ, मध्यम आदि । इसलिए 'पॉच भूतो का सयोजन' कारण यहॉ धटित नही होता, उपयुक्त नहीं लगता । कर्म के कारण जितना आयुष्य मिलता है, उतने काल तक जीवित रहता है, देह धारण किए रहता है । देह के अग/हाथ-पैर आदि उपाग/अगुलि आदि के भग होने पर भी जीता है ।

पॉच भूतो के विशिष्ट सयोजन से यदि चैतन्य शक्ति उत्पन्न होती हो तो जगती के सर्व प्राणियो मे समान रूप से होनी चाहिए, किन्तु भिन्नता/विचित्रता दिखाई देती है । मनुष्य-पशु-पक्षी/पचेन्द्रिय मे जो व्यक्तादि करने की जीवन की शक्ति है वह मक्खी-मच्छर-भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय प्राणियो मे नहीं देखी जाती, और इससे भी न्यून/कम तीन इन्द्रिय वाले प्राणी जगत-यूका, चीचड, मकडी आदि मे होती है तथा सीप, शख, जौक आदि जन्तुओ/दो-इन्द्रिय वालो मे और भी कम एव पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-वनस्पति मे रहे स्थावर जीवों की शक्ति अति न्यून होती दिखाई देती है ।

"मनुष्य-मनुष्य मे भी शक्ति का वैचित्र्य प्रतीत होता है । कोई प्रखर बुद्धि का धनी है तो कोई मन्द बुद्धि है ।

स्मरण शक्ति मे भी अन्तर स्पष्ट प्रकट होता है, किसी की स्मृति तीव्र है तो कोई की मन्द, मन्दतर । उसे वार-वार रटने, सोचने पर भी नहीं, तो दूसरे को तत्काल कण्ठस्थ हो जाता है । यह अन्तर क्यो ? यह भी देखा जाता है कि स्थूल देह-व्यक्ति मे वुद्धि की स्फुरणा कम तो इसके विपरीत कृशकाय व्यक्ति मे स्फुरणा अधिक रहती दिखाई देती है । जव कि मोटा/स्थूल शरीर मे भूतों का अधिक मात्रा और विशिष्ट सयोजन हुआ है—वुद्धि स्फुरणा अधिक होनी चाहिए, क्योंकि चैतन्य की अधिकता होगी । किन्तु ऐसा न्यूनाधिक का विकल्प स्पष्ट दिखाई देता है ।"

कालान्तर/जन्मान्तर मे वन्धुओ! आत्म तत्व को स्वीकार किए विना, उसे 'नित्य' शाश्वत माने विना कर्म का वन्ध और उसका फल, सस्कार, तदनुसार प्रवृत्ति तथा फल भोग का स्थान-लोक-परलोक/नरक-स्वर्गादि, ये सव निरर्थक ठहरते हैं; क्योंकि सव कुछ ऐहिक ही है पारलौकिक तो है नहीं, इसलिए कि देह के नाश के साथ आत्मा का भी नाश हो जाता है, 'लय' हो जाता है । किन्तु अपन इस जीवन मे प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं कि एक जन्म लेनेवाला वालक जिसमे अभी मनोभावों को व्यक्त करने की शक्ति का, इन्द्रियों का तथा शरीर का भी पूर्ण विकास नहीं हो पाया है तो कर्म/कार्य करने की शक्ति उसमे कहाँ ? तथापि उसके मनोभाव, क्रोधादि, ईर्ष्या, लोभ, मोह आदि तथा सन्तोप, शान्ति इत्यादि क्रमश· क्रूर-सौम्यभाव दृष्टिगोचर होते हैं, ऐसा क्यो ? साथ ही एक व्यक्ति जिसने ऐसा कोई अनिष्ट/हिस्र आदि कर्म नहीं किया है ऐसे अकृत अथवा अदृष्ट कर्म का फल भोगता दिखाई देता है । वह कर्म-फल भोग और कर्म आत्मा को नित्य माने विना कैसे मिल सकता है ? प्रारव्ध, आत्मा द्वारा सगृहीत/सचित कर्म, 'सस्कार' को जन्म देते हैं और उससे/सस्कार से प्रवृत्ति होती है अत· आत्मा को नित्य मानना ही पड़ेगा ।

गुरुदेव 'आत्मा' को 'नित्य' प्रमाणित करने के लिए पूर्वजन्म/पुनर्जन्म और सस्कार-सग्रह तथा उसकी प्रवृत्ति का ज्ञान कराते हुए कहते हैं—

"क्रोधादि तरतम्यता, सर्पादिकनी मांय ।
पूर्वजन्म सस्कार ते, जीव नित्यता त्याय ॥६७॥"

"सर्पादि जन्तुओ मे जन्म से ही क्रोधादि भावो का तारतम्य/न्यून - अधिक दिखाई देता है । यह पूर्व जन्म के सस्कार के कारण ही है अत वहॉ जीव की नित्यता/नित्यत्व ही है । ऐसा मानना चाहिए ।"

आत्मा की नित्यता के लिए इस पद मे दो तथ्यो का प्रतिपादन हुआ है, विचारणीय हैं—

एक - पूर्व जन्म के सस्कारो का अस्तित्व होना,

दो - क्रोधादि भावो मे तारतम्य/कमोवेशी होना,

बन्धुगण, गुरुदेव ने शिष्य को 'चैतन्य' आत्मा के 'नित्यत्व' गुण को सटीक, युक्ति से समझाया है, कि –**"क्रोधादि तरतम्यता, सर्पादिक नी मांय,"** अर्थात् सर्प मे जन्म से ही क्रोध का विशेष रूप, कपोत/कबूतर मे अहिसक रूप, मेढक आदि मे दु ख/भय सज्ञा दिखाई देती है । तो दूसरी ओर ऐसे जीव-जन्तु है, देखने मे अति क्रूर हैं, जैसे वृश्चिक/बिच्छू आदि, मैना, तोता आदि सौम्य, मधुरवाणी के स्वामी तथा ऐसे भी प्राणी देखे जाते हैं जिनमे मैथुन सज्ञा/सेक्स अत्यधिक है और ऐसे भी है जो उपराम वृत्ति के हैं । कई पशु-पक्षी आहार सज्ञा मे विशेष स्थान रखते है, कई एक लोभ मे अधिक सलग्न हैं ।

आगम मे सज्ञा चार है - आहार सज्ञा, भय सज्ञा, मैथुन सज्ञा, परिग्रह सज्ञा । साधारण शब्दो मे भोजन, डर, काम-वासना, लोभ का होना । सज्ञा का अर्थ है चेतना का इन भावो मे विकृत होना, अथवा आहारादि को ग्रहण करने की इच्छा विशेष को सज्ञा कहा है । इसका मूल आधार पूर्व मोह कर्म, वेदनीय कर्म का जागृत/उदय होना है । पूर्व सस्कारो से, वर्तमान के निमित्त से प्रवृत्ति होती है, वे ही प्रवृत्ति को जन्म देते है । किन्तु 'आत्मा' को 'नित्य' स्वीकार

किए विना सस्कार/उपादान आदि का सचय/सग्रह कहाँ ? किस प्रकार रहेंगे ? क्योंकि वे सस्कार ही प्रवृत्ति को जन्म देते हैं –**"यथा संस्कार तथा प्रवृत्ति ।"**

गुरुदेव ने कहा कि क्रोधादि का यह तारतम्य/न्यून–अधिकता/कमोवेशी प्राणियों मे जन्म से ही देखी जाती हैं और वह उसी प्रकार की प्रवृत्ति करता है । क्योंकि देह से तो उसने अभी कोई ऐसी प्रवृत्ति नहीं की जिससे क्रोधादि उत्पन्न हो गया हो । ऐसा क्यों ? यह पूर्व जन्म के संस्कारों के अनुसार ही है ।

पुनश्च, कोई यह कहें कि, "गर्भ मे रज–वीर्य गुण के कारण उसकी प्रकृति और स्वभाव जैसा होता है, वैसा ही गुण–दोष उत्पन्न हो जाता है । इसमे पूर्व जन्म कोई कारण भूत नहीं है ।" किन्तु यह उत्तर भी गले नहीं उतरता । क्योंकि अत्यधिक कामी माता–पिता की सन्तान/पुत्र–पुत्री उपशान्त वासना वाले/उपशम काम दृष्टिगोचर होते हैं, क्रोधादि कपाय की तीव्रता स्वभाव वाले माता–पिता की सन्तान शान्त/समता स्वभाव वाले देखे जाते हैं । इस प्रकार के विभिन्न/विचित्र अन्तर से यही प्रतिभासित होता है कि कोई अन्य कारण है इस वैभिन्नय और वैचित्र्य का वीर्यादि नहीं है ।

यदि तत्वदृष्टि से विचार किया जाय तो रज–वीर्य आदि ये तत्व चेतन नहीं जड़ हैं । आहारादि ग्रहण से होने वाला परिणमन सात प्रकार का है रस–रक्त–मास–मेद–अस्थि–मज्जा–शुक्र । ये शरीर के उपादान हैं अतः चेतन नहीं हैं । हॉ, इनके विकृत होने पर समूर्छिम जीव अवश्य उत्पन्न हो जाते हैं । किन्तु देह–निर्माण तो इनमे जब तक 'चेतना' का संचार नहीं होता, नहीं होता है । आहार से रसोत्पत्ति और रज–वीर्य आदि के समिश्रण से पिण्ड/पुतला वनता है फिर अगोपांग आदि । किन्तु उस रज–वीर्य रूप आहार का ग्राहक कौन ? जीव, चेतन ही है। वह एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करने के लिए उत्पत्ति स्थान में सर्वप्रथम 'ओज' आहार ग्रहण

करता है । आत्मवादी प्रथम समय मे ही उत्पत्ति स्थान मे जीव मानते हैं क्योकि उसके बिना निर्माण क्रिया सभव नहीं, और शरीर विज्ञानवेत्ता उस पिण्ड/शरीर मे तीसरे मास मे जीव/भ्रूण होना मानते हैं । अन्ततोगत्वा 'चेतन' के बिना कुछ भी सभव नहीं ।

फलितार्थ यह है कि क्रोधादि भावों या सज्ञाओं/स्वभावों, क्रियाओ का जन्म के साथ ही जो अन्तर दिखाई देता है वह पूर्व कृत कर्म और उसके सस्कारो के आधार पर है, मात्र भूतो पर नहीं । चेतन के कम-अधिक, प्रयोग पूर्व अभ्यास के कारण ही सभव है । क्योकि प्रत्येक कार्य के लिए कारण की अपेक्षा रहता है । देह-धारण के लिए भी उक्ति प्रचलित है -**"पहले बनी प्रारब्ध, पाछे धरयो शरीर ।"** प्रारब्ध क्या है ?-उपादान/शुभाशुभ कर्म/सस्कार जो सग्रह किए है -मन-वाणी और शरीर द्वारा । इस प्रकार पूर्व जन्म/पुनर्जन्म आदि हैं और यह आत्मा को 'नित्य' सिद्ध करते हैं ।

फिर आज तो यदा-कदा समाचार पत्रो मे पढ़ने और देखने मे आता है कि नन्हें बालक-बालिकाएँ अपने पूर्व जन्म का स्मरण करके नाम-धाम, घटनाएँ बताते हैं । बहुत वर्ष पूर्व एक 'शारदा' नामक बालिका छह-सात वर्ष की आयु मे गीता के १८ अध्याय कण्ठस्थ सुनाती थी, जबकि उसके घर मे कोई श्रीमद् भगवत्गीता का पारायण करने वाला नहीं था । यह ज्ञान, स्मृतिरूप है, विज्ञान है, आत्मा का गुण है तथा जहाँ गुण/धर्म के दर्शन हो तो वहाँ 'गुणी' होगा ही । क्योकि 'गुण' गुणी के अभाव मे कहाँ रहेंगे । वह तो द्रव्य मे ही रहेगा यानि गुणी की विद्यमानता मे ही 'गुण' का सद्भाव है । **"गुण-पर्यायवद् द्रव्य ।"** गुण और पर्याय लक्षणो वाला ही 'द्रव्य' है तथा **"गुणसमासओ दव्व"** कहा है ।

(क्रमशः)

आत्मा नित्य प्रत्यक्ष : दो

अव गुरुदेव शिष्य को आत्मा/चैतन्य-शक्ति नित्यत्व-अनित्यत्व स्वरूप का अनेकान्त दृष्टि से निरूपण करते हुए वताते है कि, "आत्मा नित्य है, कथचित् अनित्य भी है "-

"आत्मा द्रव्ये नित्य छे, पर्याये पलटाय ।
बालादि वय त्रण्यनुं, ज्ञान एकने थाय ॥६८॥

"आत्मा द्रव्य की अपेक्षा, वस्तुत्व-वस्तुपने से 'नित्य' है, पर्याय/अवस्था से परिवर्तनशील, पलटने / वदलने वाली है । वालादि तीन आयु हैं/अवस्थाएँ हैं इनका एक आत्मा को ज्ञान रहता है ।"

इस पद मे तीन वातों पर विचार करना है -

एक - द्रव्य से आत्मा नित्य है, पर्याय से अनित्य है ।

दो - वालादि अवस्थाओ का ज्ञान एक आत्मा को ही होता है ।

तीन - आत्मा कूटस्थ नित्य नहीं, परिणामी नित्य है, अनित्य होते हुए भी 'क्षणिक' नहीं है ।

गुरुदेव ने आत्मा को पहले शरीर से पृथक् तथा 'नित्य' सिद्ध किया था, अव उसे द्रव्य-पर्याय-दृष्टि से 'नित्यानित्य' स्वरूप वाला प्ररूपित कर रहे हैं ।

जगत् की प्रत्येक वस्तु एकान्तत नित्य नही है, अन्त्यि भी नहीं है । वह द्रव्य रूप मे अवस्थित रहती है, पर्याय/अवस्था विशेष, रूप से अनवस्थित या परिवर्तित होती हैं । वस्तु/सद्‌भाव पदार्थ/द्रव्य परिणमनशील है, अत. पर्याय मे परिणमन होती रहती है । एक उदाहरण द्वारा यह वात सरलता पूर्वक, सहज समझ मे आ सकेगी । गुरुदेव ने कहा -"जिस प्रकार समुद्र मे कोई परिवर्तन नहीं होता, किन्तु जो

लहरे आती–जाती रहती हैं उनमे परिवर्तन होता रहता है, उसी प्रकार द्रव्य की अपेक्षा आत्मा नित्य है, उसमे कोई परिवर्तन नही होता, किन्तु समय–समय पर उसके जो ज्ञान का परिणमन होता रहता है, उससे उसका पर्याय–परिवर्तन होता रहता है ।"

दूसरा दृष्टान्त, "बाल्यकाल मे आत्मा 'बालक' समझा जाता है जब वह बालकपन छोड युवावस्था धारण करता है तब वह 'युवा' कहा जाता है , और इसी प्रकार जब युवावस्था छोडकर वृद्धावस्था धारण करता है तब वह 'वृद्ध' कहलाता है । इन तीनो अवस्थाओ मे जो भेद हुआ वह पर्याय भेद हैं; इससे आत्मा मे भेद हुआ न समझना चाहिए । मतलब यह है कि परिवर्तन अवस्था का हुआ है, आत्मा का नहीं । आत्मा इन तीनो अवस्थाओ को जानता है और तीनो अवस्थाओ की उसे ही स्मृति है, और यह बात तभी बन सकती है जबकि आत्मा तीनो अवस्थाओ मे एक ही हो । और जो वह क्षण–क्षण मे बदलता रहता हो तब तो ऐसा अनुभव हो ही नहीं सकता ।"*

बन्धुओ! "आत्मा नित्य है" यह सिद्धान्त तो निर्विवाद मान्य है किन्तु कैसा नित्य ? "कूटस्थ नित्य" "अकारक" है । वह मात्र द्रष्टा/ज्ञाता है । और किसी की मान्यता है वह ज्योतिर्मय है, चिन्मय है आदि । यहॉ 'कूटस्थ नित्य' का निरसन करते हुए कहा है कि –"आत्मा नित्य तो है ही किन्तु परिणामी नित्य है ।" "परिणाम गुण" के बिना विभिन्न अवस्थाओ को धारण नहीं कर सकता । और परिणामी होने से ही अनित्य भी है । किन्तु शाक्य श्रमण/बौद्धो की मान्यता की भॉति क्षणिक एव मात्र एकान्त अनित्य नहीं है । वह द्रव्य से नित्य है, पर्याय से अनित्य है ।

आगम मे वस्तु को परिणमनशील, उसे उत्पाद/व्यय/ध्रौव्यात्मक माना है । उत्पाद से अभिप्राय है उत्पत्ति धर्म वाला, व्यय से नाश धर्म वाला तथा मूलसत्ता मे बने रहना ध्रुवावस्था है। ध्रौव्य—ध्रुवपन है, नित्य है ।

---

* सम्यग्सिद्धान्त समर्थन, – मुनि सुमेर चन्द (परदेशी)

भगवान महावीर के गणधर मण्डियपुत्र ने प्रभु श्रमण भगवान से प्रश्न किया था, बन्ध और मोक्ष के सदर्भ मे, "कि क्या आप आत्मा को एकान्त नित्य मानते हैं ?"

भगवान – "नहीं । जो लोग आत्मा को बौद्धों के समान एकान्त नित्य कहते हैं, उनके निराकरण के लिए आत्मा का नित्यत्व सिद्ध किया है । वस्तुत. आत्मा के नित्यत्व के सम्वन्ध मे मुझे एकान्त आग्रह नहीं है । मेरी मान्यतानुसार तो सभी पदार्थ उत्पाद, स्थिति, भग; इन तीनों धर्मो से युक्त होने के कारण 'नित्यानित्य' हैं । जव केवल पर्याय की विवक्षा हो तो पदार्थ 'अनित्य' कहलाता है । द्रव्य की अपेक्षा से उसे 'नित्य' कहते हैं । जैसे कि घट के विषय मे कहा जाता है कि मिट्टी का पिण्ड नष्ट होता है तथा मिट्टी का घडा उत्पन्न होता है, किन्तु मिट्टी विद्यमान रहती ही है । इसी प्रकार मुक्त जीव के विषय मे कह सकते हैं कि वह ससारी आत्मा के रूप मे नष्ट हुआ, मुक्त आत्मा के रूप मे उत्पन्न हुआ तथा जीवत्व (सोपयोगत्वादि) धर्मो की अपेक्षा से जीव–रूप मे स्थिर रहा । उस मुक्त जीव के विषय मे भी हम कह सकते हैं कि वह प्रथम समय के सिद्ध रूप मे नष्ट हुआ, द्वितीय समय के सिद्ध रूप मे उत्पन्न हुआ, किन्तु द्रव्यत्व, जीवत्वादि धर्मो की अपेक्षा से अवस्थित ही है । अत पर्याय की अपेक्षा से पदार्थ अनित्य है और द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है ।" *

अव गुरुदेव 'क्षणिकवाद' का निरसन करते हुए 'नित्यत्व'/शाश्वतवाद की प्रतिष्ठापना करते हैं –

"अथवा ज्ञान क्षणिक नु, जे जाणी वदनार ।
वदनारो ते क्षणिक नहीं, कर अनुभव निर्धार ॥६९॥

–"अर्थात् जिसको 'क्षणिक' का ज्ञान है, जो यह जानता, कहता है अमुक पदार्थ क्षणिक है, ऐसा कहने वाला क्षणिक नहीं हो सकता, नहीं है, "यह अनुभव से निश्चय है/होता है अथवा अनुभव से आत्मा की नित्यता का निश्चय करो ।"

---

* गणधरवाद पृ ११३–प्रो पृथ्वीराज जैन

इस पद मे क्षणिकवाद के निरसन की तीन युक्तियो का कथन है–,

एक : 'क्षणिक' का ज्ञाता एव वक्ता जो है वही 'आत्मा' है ।

दो : 'क्षणिक है' का वदनार/कथक–कहने वाला 'क्षणिक' नहीं है ।

तीन : 'क्षणिक' का ज्ञाता/वक्ता 'क्षणिक' नहीं है यह अनुभव से निर्धारण/निश्चय करो ।

बन्धुओ। आप की स्मृति मे होगा कि शिष्य ने 'आत्मा की नित्यता' के बारे मे शका करते हुए कहा था कि –,

"अथवा वस्तु क्षणिक छे, क्षणे क्षणे पलटाय ।
ए अनुभव थी पण नही, आत्मा नित्य जणाय ॥"

–वस्तु क्षण–क्षण मे बदलती है, सर्व वस्तुऍ क्षणिक हैं, इस अनुभव के आधार पर 'आत्मा' भी क्षणिक है । वह नित्य नहीं प्रतीत होती । उसका इस पद मे समाधान करते हुए कहा है—**"ज्ञान क्षणिक नु, जो जाणी वदनार,"** – जो जानता है, जिसको यह ज्ञान है कि अमुक वस्तु क्षणिक है, जो यह जानकर/ज्ञानकर कहता है, वह ज्ञाता, वक्ता क्षणिक/क्षण भर रहने वाला नहीं है और हो भी नहीं सकता – **"वदनारो ते क्षणिक नहीं,"** क्योकि पहले क्षण मे हुआ अनुभव दूसरे क्षण मे कहा जा सकता है, कारण कि एक समय मे दो क्रियाऍ तो होती नहीं, और दूसरे क्षण मे वह/जो ज्ञाता है, अनुभव करने वाला है स्वय ही न हो तो वह 'क्षणिक' का अनुभव—**"वस्तु क्षणिक छे, क्षणे–क्षणे पलटाय,"** कैसे रह सकता है ? इस अनुभव से–जो कहा गया है, आत्मा की नित्यता का निश्चय करो । अर्थात् यह अनुभव भी आत्मा की 'नित्यता' सिद्ध करता है ।

श्रमण भगवान महावीर के सान्निध्य मे भी इस विषय/क्षणिकवाद की चर्चा होती रही है । सूत्रकृताग सूत्र मे पर–समय निरूपण मे 'क्षणिकवाद' का उल्लेख—**"खण–जोइणो"** कहकर किया है । प्रभु के तृतीय गणधर वायुभूति ने

'जीव-शरीर' विषय मे अपनी शकाओं का समाधान पाया था। वायुभूति ने कहा था कि –"जीव चाहे शरीर से भिन्न सिद्ध हो जाए फिर भी शरीर के समान क्षणिक होने के कारण वह शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है । अत· उसे शरीर से भिन्न सिद्ध करने मे क्या लाभ है ?

"जीव क्षणिक नहीं"

भगवान—वौद्धमत के अनुसरण से ऐसी शका की उत्पत्ति स्वाभाविक है, किन्तु ससार मे सभी पदार्थ क्षणिक नहीं हैं । द्रव्य नित्य है, केवल उसके परिणाम अथवा पर्याय ही अनित्य या क्षणिक है । अत शरीर के साथ जीव का नाश नहीं माना जा सकता । कारण यह है कि पूर्वजन्म का स्मरण करने वाले जीव का उसके पूर्वभव के शरीर का नाश हो जाने पर भी, क्षय नहीं माना जा सकता । अन्यथा पूर्व भव का स्मरण कैसे होगा ? जिस प्रकार वाल्यावस्था का स्मरण करने वाली वृद्ध की आत्मा का वाल्यावस्था मे सर्वथा नाश नहीं होता, क्योकि वह वाल्यावस्था का स्मरण करती है, उसी प्रकार जीव पूर्वजन्म का स्मरण करता है । अत· पूर्वजन्म मे शरीर के साथ उसका सर्वथा नाश सम्भव नहीं है। अथवा जिस प्रकार विदेश मे गया हुआ कोई व्यक्ति स्वदेश की वातों का स्मरण करता है, अत. उसे नष्ट नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार पूर्वजन्म का स्मरण करने वाले व्यक्ति का भी सर्वथा नाश स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

वायुभूति—पूर्व-पूर्व विज्ञान-क्षण के सस्कार उत्तर-उत्तर विज्ञान-क्षण मे सक्रात होते हैं, अत. विज्ञान-क्षण रूप जीव को क्षणिक स्वीकार करने पर भी स्मरण की सभावना है ।

विज्ञान भी सर्वथा क्षणिक नहीं

भगवान—यदि विज्ञान-क्षण का सर्वथा निरन्वय नाश माना जाय तो पूर्व-पूर्व विज्ञान-क्षण से उत्तर-उत्तर विज्ञान-क्षण सर्वथा भिन्न ही होंगे । ऐसी स्थिति मे पूर्व विज्ञान द्वारा अनुभूत वस्तु का स्मरण उत्तर विज्ञान मे सभव नहीं ।

"देवदत्त द्वारा अनुभूत वस्तु का स्मरण यज्ञदत्त को नहीं होता । पूर्वभव का स्मरण होता है अतः जीव को सर्वथा विनष्ट नहीं माना जा सकता ।"

वायुभूति – जीवरूप विज्ञान को क्षणिक मानकर भी विज्ञान सन्तति के सामर्थ्य से स्मरण हो सकता है ।

भगवान—"यदि ऐसी बात है तो शरीर के नष्ट हो जाने पर भी विज्ञान सतति का नाश नहीं हुआ । अत विज्ञान–सन्तति को शरीर से भिन्न ही मानना चाहिए । यह बात भी स्वीकार करनी पडेगी कि विज्ञान–सन्तति भवान्तर मे भी सक्रान्त होती है ।

पुनश्च, ज्ञान का भी सर्वथा क्षणिक होना सभव नहीं है, कारण यह है पूर्वोपलब्ध वस्तु का स्मरण होता है । जो क्षणिक होता है उसे भूत (अतीत) का स्मरण जन्मान्तर विनष्ट के समान सभव नहीं है । किन्तु स्मरण होता है, अतः विज्ञान को क्षणिक नहीं माना जा सकता ।"

"विज्ञान को एकान्त–क्षण विनाशी स्वीकार करने पर उक्त तथा अन्य अनेक दोषो की आपत्ति उपस्थित होती है । किन्तु उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य युक्त विज्ञानमय आत्मा को मानने मे एक भी दोष नहीं है । ऐसी आत्मा स्वीकार करने से ही समस्त व्यवहार की भी सिद्धि होती है, अत क्षणिक विज्ञान के स्थान पर शरीर से भिन्न आत्मा ही मानना चाहिए ।"

बन्धुओ! इसको हम इस प्रकार भी ज्ञानकर सकते हैं । आगम मे 'आत्मा' के आठ भेदों का उल्लेख है । जैसे –

ज्ञान–आत्मा, दर्शन–आत्मा, चरित्र–आत्मा, योग–आत्मा, उपयोग–आत्मा, वीर्य–आत्मा, कषाय–आत्मा, द्रव्य–आत्मा ।*

ये आत्मा की स्वभाव–विभाव परणतियॉ हैं । ज्ञान, दर्शन, चारित्र, उपयोग, वीर्य ये स्व–पर्याय परिणतियॉ हैं तथा कषाय विभाव परिणति है । द्रव्य आत्मा, गुण–पर्याय युक्त शुद्ध

* भगवती सूत्र शत १२/१०/सूत्र ४६७

आत्मा है । द्रव्य आत्मा ज्ञान पर्याय मे परिणमन करता है तो ज्ञानात्मा, दर्शन गुण मे तब दर्शनात्मा । इसी प्रकार ज्ञान–दर्शन मे तब उपयोगात्मा कहलाता है । तथा क्रोधादि कषाय मे है तो कषायात्मा कहलाता है । किन्तु आत्मा तो एक ही है, वह स्व–पर, स्वभाव–विभाव पर्याय–परिणमन करने से उस–उस सज्ञा से अभिहित हो गया । एक पर्याय से दूसरी पर्याय मे परिणमन करने से पूर्व की पर्याय नष्ट हुई है किन्तु चैतन्य शक्ति के कारण स्मृति बनी रहती है फलत आत्मा द्रव्य रूप मे स्थिर है, अवस्थित है, वह क्षणिक नही है, 'नित्य' है । इसलिए गुरुदेव पुनः स्पष्टज्ञान कराते हुए कहते है–

"क्यारे कोई वस्तु नो, केवल होय न नाश ।
चेतन पामे नाश तो, केमां भले तपास ॥७०॥"

–"अर्थात् कभी किसी काल मे किसी वस्तु का केवल/सर्वथा/सम्पूर्ण रूप मे नाश नहीं होता, मात्र अवस्थान्तर होता है, बदलाव आता है । चैतन्य/आत्मा–जीव का भी सर्वथा नाश नही हो सकता, अवस्थान्तर होता है । यदि चेतन सर्वथा नाश को प्राप्त हो जाय अर्थात् उसका अवस्थान्तर भी नष्ट हो जाय, तो खोज करनी चाहिए कि वह किस तत्व मे मिल गया है ।"

इस पद मे दो महत्वपूर्ण तत्वों/धर्मो का प्रतिपादन हुआ है—

एक : किसी पदार्थ/वस्तु का सर्वथा रूप मे नाश नहीं होता ।

दो : यदि 'चेतन' का नाश मान लिया जाय तो उसको किस पदार्थ मे ढूढा जाय, खोज की जाय ?

शिष्य को गुरुदेव एक "यूनिवर्सल लॉ/सार्वभौम नियम का – वस्तु स्थिति का ज्ञान कराते हैं कि, कोई वस्तु/पदार्थ कभी किसी काल मे भी सर्वथा नष्ट नहीं होता, केवल उसका अवस्थान्तर होता है/रूप बदलता है । ६८–६९ वे पदों मे 'नित्य–अनित्य'. 'क्षणिक' का स्वरूप अपेक्षा से प्रतिपादित किया

था उसमे नित्य-अनित्य को 'त्रिपदी' के आधार पर ही कहा था । यह 'त्रिपदी' चिरन्तन सत्य है, उलझन को दूर कर वस्तु के स्वरूप को पारदर्शी की भॉति स्पष्ट प्रतिदर्शित कर देती है । उत्पाद, व्यय, ये दोनो वस्तु के निर्माण और नाश के रूप है, वस्तु की अवस्थाएँ है । उत्पत्ति के समय से लेकर व्यय/नष्ट होने तक प्रत्येक वस्तु काल के निमित्त से अवस्था/दशा परिवर्तित करती है, यह उसका गुण/धर्म है स्व पर्याय मे परिणमन होते रहना/और एक काल ऐसा आता है जब उसकी पूर्व आकृति/ढॉचा/स्ट्रक्चर नष्ट हो जाता है, किन्तु जो वस्तु जिस सामग्री से बनी है वह तो बराबर बनी रहती है, उसका नाम ही 'ध्रौव्य' है—सदा बने रहना । मात्र वस्तु की अवस्था बदलती है ।

जिस प्रकार सोने की अॅगूठी को तोडकर जजीर/साकल बनी । अॅगूठी का टूटना व्यय-नष्ट होना है, जजीर का बनना उत्पाद है, सोना-स्वर्ण जो उपादान कारण है/मूल सामग्री है वस्तु की, वह सदा बना रहता है, वही ध्रौव्य गुण है ।

यहॉ इस पद मे यही बात समझाई है कि किसी वस्तु का किसी काल मे सर्वथा विनाश नहीं होता –**"क्यारे कोई वस्तु नो केवल होय न नाश ।"** यदि चेतना-आत्मा का नाश हो तो उसकी शोध करनी चाहिए कि वह कहॉ-किसमे मिल गया । उसका अवस्थान्तर किस प्रकार का होता है । जैसे घडा है, उसके फूट जाने पर कहा जाता है कि घडा फूट गया/नष्ट हो गया, तत्व दृष्टि से देखा जाय तो घट-पर्याय/घडे का रूप/आकृति-अवस्था नष्ट हुई है, घडे की मूलसामग्री मिट्टी का नाश नहीं हुआ । वह मिट्टी टूटकर, सूक्ष्म टुकडे-टुकडे होकर चूर्ण रूप मे हो जाय, बारीक धूलि बन जाय तब भी परमाणु समूह रूप मे बनी ही रहेगी, सर्वथा नाश नही कहा जा सकता । हॉ, अवस्थान्तर रूप का नाश कहा जा सकता है ।

बन्धुओ। अब विचार कीजिएगा कि जैसे वह घडा फूट-टूटकर क्रमश टुकडे हो गया किन्तु, धूलि, सूक्ष्म परमाणुरूप मे उसका अस्तित्व/अवस्थान रहता है, उसी प्रकार

'चेतन' आत्मा का अवस्थान्तर रूप नाश, किस स्थिति मे, किस रूप मे रहता है ? – **"चेतन पामे नाश तो"** इसे किस रूप मे कहोगे ? क्योकि घट के परमाणु तो मिट्टी के परमाणुओं मे मिल जाते हैं, वैसे ही चेतन किस वस्तु मे मिलने योग्य है ? – **"केमां भले तपास,"** अर्थात् इस प्रकार अनुभव दृष्टि से, देखने से ज्ञात होगा कि 'चेतन' किसी पर–द्रव्य मे नहीं मिश्रित होता, यह शक्य भी नहीं है, चेतन द्रव्य के अतिरिक्त पुद्गल आदि जड हैं/पर हैं । पर–स्वरूप मे अवस्थान्तर होने योग्य 'चेतन' नहीं है, ऐसा अनुभव करने से ज्ञात होगा । तो फिर चेतन का नाश कहॉ और यदि नाश को प्राप्त होता है तो उसे कहॉ किस (पुद्गल पर्याय) वस्तु मे ढूँढा जाय/खोजा जाय ?

जगत मे दो प्रकार के पदार्थ हैं – जड और चेतन, मूर्त्त और अमूर्त्त । जीवात्मा/चैतन्य और अमूर्त्त है, नित्य है, अखड है । दृष्टिगोचर होने वाला ससार मूर्त्त है, प्रत्येक मूर्त्त वस्तु पुद्गल रूप है, जड है, अखण्ड होते हुए भी वह परमाणु रूप है, परमाणुओं से स्कन्ध–देश–प्रदेश का रूप वनता है । भौतिक/पौद्गलिक/मूर्त्त वस्तु परमाणु निर्मित है । जैसे एक वस्त्र है, वह रूई, सूत्र का सघात रूप है, किन्तु रूई, सूत्र का भी एक स्कन्ध अनेक परमाणुओं से मिलकर वना है फलतः वह रॉ मटिरियल है सामग्री है । यह सामग्री तो लोक/विश्व/आकाश मे अवस्थित रहती ही है मात्र उस वस्तु के रूप मे उत्पाद और व्यय होता रहता है अर्थात् एक का उत्पाद हुआ तो पूर्व का व्यय हो गया—वह व्यय–नाश, रूप/आकृति/अवस्था विशेष का हुआ है, मूल पदार्थ का नहीं । इसी प्रकार आत्मा का भी, उसका अवस्थान्तर/पर्याय परिवर्तित होती है । कभी मनुष्य, तिर्यञ्च, देव, नारक आदि विभिन्न अवस्थाओ मे तथा क्रोधादि भाव मे कषायी, तो शान्ति–सन्तोष भाव मे प्रशान्तात्मा, ज्ञानादि मे ज्ञानात्मा । इसी प्रकार हिम्रादि कर्म मे सलग्न अध्यवसाय और योग वाला आत्मा उन–उन भावों का कर्त्ता और उस नाम से पुकारा जाता है ।

वह अखड द्रव्य है । एक देह मे रहते हुए भी विभिन्न पर्यायो मे परिणमन होता रहता है । और देहान्तर मे भी ।

इसलिए आत्मा की न तो भूतों से उत्पत्ति हुई है और न ही भूतो मे विलय/नाश होता है । *

दूसरे पद का पारायण समाप्त हुआ ।

बस, आज इतना ही ।

अन्तिममगल : अरिहन्त मगल... । चत्तारि मगलं...।

शनिवार
२४, सितम्बर '८८

गुलाब सदन
१९, बर्टन रोड, बोलारम–१०.
सिकन्द्राबाद

---

* कोई सयोगों थी नहीं, जेनी उत्पत्ति थाय ।
नाश न तेनो कोइमा, तेथी नित्य सदाय ॥"

तीसरा पद

"छे कर्त्ता निज कर्म"

शं
का
|
स
मा
धा
न

८ पद

७१ से ७३ पद
७४ से ७८ पद

"छे कर्त्ता निज कर्म"

शंका

"कर्त्ता जीव न कर्म नो, कर्म ज कर्त्ता कर्म ।
अथवा सहज स्वभाव का, कर्म जीव नो धर्म ॥"

●

"आत्मा सदा असग ने, करे प्रकृति बन्ध ।
अथवा ईश्वर प्रेरणा, तेथी जीव अबन्ध ॥"

— श्रीमद्रायचन्द्र

७१ से ७३ पद

कर्त्ता जीव न कर्म नो ... शंका

श्रीमद् रायचन्द्र ने जनसाधारण/सामान्य बुद्धि मनुष्यो के लिए आगम पारायण रूप मथन से निसृत तत्व ज्ञानरूप नवनीत/माखन को अपनी सहज सरल भाषा/लोक भाषा मे प्रदिपादित किया है । 'आत्मसिद्धि' शास्त्र/पद्य रचना मे 'आत्मा' के स्वरूप बारे विभिन्न मान्यताओ का उल्लेख करते हुए जो समीचीन, तर्कसगत तथा व्यवहारिक है, साथ ही सर्वज्ञ कथित भी किन्तु प्रत्यक्ष, अनुमान, आगमादि प्रमाणो से प्रमाणित हुआ है उसे गुरु–शिष्य के सवाद/प्रश्न–उत्तर के माध्यम से रखा है । उसमे 'आत्मा है, नित्य है', ये प्रश्न–उत्तर, शका समाधान, दोनो का पारायण हो चुका है । आज तीसरा प्रश्न या जिज्ञासु शिष्य की जिज्ञासा/शका कि **"आत्मा कर्म का कर्त्ता नहीं है"** का उल्लेख है ।

शिष्य ने गुरुदेव के समक्ष 'आत्मा कर्म का कर्त्ता नहीं है' की अपनी विचारधारा/मान्यता को रखा है कि –

"कर्त्ता जीव न कर्म नो, कर्म ज कर्त्ता कर्म ।
अथवा सहज स्वभाव कां, कर्म जीव नो धर्म ॥७१॥"

–"अर्थात् जीव कर्म का कर्त्ता/करनेवाला नहीं है । कर्म का कर्त्ता स्वय कर्म ही है, अथवा वे/कर्म अनायास ही होते रहते है, ऐसा नही, तो जीव ही कर्म का कर्त्ता है, कर्म करना जीव का धर्म स्वभाव है, तो स्वभाव कभी जीव से अलग कैसे होगा ? नही हो सकता ।"

कर्म के सम्बन्ध मे इस पद मे चार बाते/मान्यताएँ अथवा विकल्प आए हैं –

१ – जीव कर्म का कर्त्ता नहीं ।
२ – कर्म ही कर्म का कर्त्ता है ।
३ – सहज रूप मे कर्म होता रहता है ।
४ – कर्म करना जीव का धर्म है ।

ये विभिन्न दृष्टिकोण/नजरिये है 'कर्म' के विषय मे । क्योकि आप जानते ही हैं कि जितने मस्तिष्क हैं उतने विचार हैं और जितने मुँह हैं उतनी वोलियॉ हैं, हैं कि नही ?""है ।"

"मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना - तुण्डे-तुण्डे वाणीर्भिन्ना" -

यानि 'तुण्ड' कहते है मुख को । जितने मुँह उतनी ही बाते और जितने मस्तिष्क हैं, 'मुँडह' है सिर है उतने ही क्या है विचार हैं । आत्मा/जीव के वारे मे भी यही कि कोई कहता है कि 'आत्मा नहीं है,' कोई कहता है, 'है तो सही', लेकिन देह के साथ ही वनता है और देह के साथ ही नष्ट हो जाता है, आत्मा का स्वतत्र अस्तित्व कुछ नहीं, मतलब वह नित्य नहीं है । किसी की मान्यता है कि आत्मा है, नित्य है किन्तु 'एक' है, वही सर्व व्यापी है आदि । इसी प्रकार 'आत्मा' के कर्तृत्व/करने के बारे मे विभिन्न मान्यताएँ हैं । शिष्य ने उनमे से कुछ मान्यताओं का यहॉ उल्लेख किया है ।

पहली मान्यता : यहॉ कर्म के वारे मे चर्चा है कि **"कर्म का कर्त्ता कौन ?"** शरीर, इन्द्रियॉ/मन/प्राणादि हैं या कोई अन्य है ? क्योकि "कर्म का करने वाला आत्मा नहीं है-" ऐसा धरती पर एक नजरिया दृष्टिकोण है । इस नजरिये/दृष्टिकोण का नाम साख्य दर्शन है । न्यान, वैशेषिक दर्शन की भी मान्यता है कि आत्मा /जीव कर्म का कर्त्ता नहीं है । सुख-दु:खादि कर्म और उसके फल, ये सब शरीर के भोग हैं, शरीर आदि के माध्यम से सब कुछ होता है । इसलिए यहॉ यह तर्क रखा है - **"कर्त्ता जीव न कर्म नो"** जीव कर्म का कर्त्ता नहीं है । क्यो ? इसलिए कि पुरुष तो मात्र द्रष्टा/ज्ञाता है । वह कूटस्थ नित्य है, उसमे किसी भी प्रकार का परिणाम या विकार नहीं । ससार-मोक्ष; सुख-दु:ख, ज्ञान, बुद्धि, चित्त, अहकार आदि ये सब प्रकृति के धर्म हैं, आत्मा के नहीं है । प्रकृति त्रिगुणात्मक/सत्व-तमस-रजोगुणो वाली है । वही सक्रिय है, आत्मा तो अक्रिय है ।

दूसरी मान्यता : "कर्म ज कर्त्ता कर्म" की है । कर्म का कर्त्ता कर्म ही है, अर्थात् पूर्व कर्म से ही नवीन कर्म होते रहते हैं । क्योकि कर्म से सस्कार बनते हैं, सस्कार से प्रवृत्ति होती है इससे पुन कर्म बनता है ।

तीसरी मान्यता : "अथवा सहज स्वभाव कां, कर्म जीवनो धर्म", अब तीसरा दृष्टिकोण है, कर्म जीव का सहज स्वभाव है, यानि सहज/अनायास ही कर्म होता रहता है, बनता रहता है और बिगडता रहता है, इसमे किसी प्रयत्न की/कारण की अपेक्षा/जरूरत नहीं है ।

चौथी मान्यता : "कर्म जीव नो धर्म" – कर्म करना जीव का धर्म है । शिष्य गुरुदेव से कहता है कि यदि आप यही कहें कि जीवात्मा ही कर्म को करता है तो 'कर्म करना' जीव का धर्म ही है, फिर उससे वह कभी निवृत्त नहीं हो सकता । क्योकि वस्तु का जो धर्म/गुण होता है वह उससे कभी पृथक्/अलग नहीं हो सकता । उदाहरण के तौर पर जैसे जल का धर्म/स्वभाव 'शीतल' 'ठडापन' है । वह अग्नि के ससर्ग से उष्ण/गर्म हो जाता है तथापि अग्नि के परमाणु दूर हो जाने के बाद वह पुन. 'शीतल' हो गया । 'शीतलत्व' धर्म नष्ट नहीं हो गया बल्कि प्रभावित हो गया है । इसका मतलब सीधा सा यह हुआ कि कर्म करना कभी बन्द नहीं हो सकता ? सदा कर्म होता ही रहेगा ।

आत्मा के अकर्तृत्व एव अबन्ध का कारण उपस्थित करता हुआ शिष्य पुन. निवेदन करता है ।–

"आत्मा सदा असग ने, करे प्रकृति बन्ध ।
अथवा ईश्वर प्रेरणा, तेथी जीव अबन्ध ॥७२॥

"आत्मा सदा असग/निःसग है और सत्वादि गुणो वाली प्रकृति कर्म का बन्ध करती है । ऐसा भी नहीं तो फिर जीव ईश्वर प्रेरित होकर कर्म करता है ईश्वर की प्रेरणा से कर्म होता है, इस कारण जीव कर्म बन्ध से सर्वथा मुक्त है, 'अबन्ध' है ।"

इस पद मे भी चार बाते हैं –

(१) आत्मा असग है ।
(२) प्रकृति से वन्ध होता है ।
(३) ईश्वर-प्रेरणा से जीव कर्म करता है ।
(४) जीव अवन्ध है ।

यहाँ उन कारणों को स्पष्ट किया है जिससे जीव अकर्त्ता और अवन्ध रहता है । इन कारणों मे –

पहला कारण : –'आत्मा का असग होना' । 'असग/नि सग' का अर्थ है निर्लेप, अनासक्त/राग रहित/निर्मोह, शव्दादि विपयो से रहित होना है । क्योंकि 'सग' से ही काम/विपयो को पाने की कामना होती है, और कामना होने से ही (समय पर अभीष्ट विपयों की प्राप्ति न होने से) क्रोध/क्षोभ पैदा होता है ।* फलत. कर्म का कर्त्ता कैसे हो सकता है सङ्ग के अभाव मे ? अव प्रश्न है आत्मा कव से असग है ? सदा से । सदा से अभिप्राय है तीन काल से— भूत, वर्तमान और भविष्य से है । अथवा अनादि काल से है । यह 'अकारकवादी' दर्शन है । साख्य दर्शन को आगम मे अकारकवादी कहा है । आत्मा न स्वय क्रिया करता है और न दूसरे से करवाता है । इस प्रकार वह सभी क्रियाएँ नहीं करता है अतएव 'अकारक' अकर्त्ता/अक्रिय है ।**
"अकर्त्ता निर्गुणो भोक्ता, आत्मा सांख्य निदर्शने इति ।"

दूसरा कारण : प्रकृति वन्ध करने वाली है । आत्मा/पुरुप के असग होने पर सत्व, रजस और तमस गुणवाली प्रकृति ही पुरुप की चेतना से सचालित होकर वुद्धि, मन, अहकार से कर्म करती है । पुरुप/आत्मा तो 'द्रष्टा' मात्र है । क्योकि वह 'कूटस्थ नित्य' है, परिणामी नहीं है ।*

---

* सगात् सजायते काम कामात् क्रोध प्रजायते ।" – गीता २/६२
** "कुव्व च कारय चेव, सव्व कुव्व न विज्जइ ।
एव अकारओ अप्पा, एव ते उ पगब्भिआ ॥"– सूत्र १/१/१/१३
* "प्रकृति करोति पुरुष उपभुङ्क्ते, तथा वुद्धध्यवसितमर्थ पुरुपश्चेतयते" इत्याद्यकारकवादिमतमिति ।" – सूत्र १/१/१३ टीका

तीसरा कारण : "ईश्वर की प्रेरणा से जीव कर्म का कर्त्ता है ।" वेदान्त के दृष्टिकोण से शुद्ध ब्रह्म/परमात्मा का जीव 'अश' है, उससे ही उत्पन्न है अत स्वय कर्म का कर्त्ता नहीं, भोक्ता नहीं । ईश्वर की प्रेरणा से क्रिया करता है, उससे ही सक्रिय है अत जीव 'अबन्ध' है । क्योकि स्वेच्छा/अपनी इच्छा से नहीं ईश्वरेच्छा से कर्म करता है ।

चौथा कारण : 'अबन्ध' होना है । जीवात्मा परमात्मा, पारब्रह्म का अश होने से वह उसी की भाँति 'अबन्ध' स्वभाव वाला है, द्रष्टा है । जैसे परमात्मा सत्–चित्–आनन्द स्वरूप है, उसी प्रकार जीव सद्–चिद् रूप तो है किन्तु आनद रूप नहीं है, परमात्मा मे लीन होने पर पुन आनन्दमय हो जाता है ।

भगवान महावीर के दशवे गणधर आर्य मेतार्य ने 'परलोक' के अस्तित्व की चर्चा मे आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व/कर्त्तापन–भोक्तापन के बारे मे सन्देह प्रकट करते हुए कहा था कि – "अपि च, अनित्य ज्ञान से भिन्न होने के कारण यदि आत्मा को एकान्त नित्य माना जाय तो आत्मा मे कर्तृत्व और भोक्तृत्व भी घटित नहीं हो सकता,.... यदि नित्य मे कर्तृत्व और भोक्तृत्व हो तो वे हमेशा होने चाहिए । कारण यह है नित्य वस्तु सदा एक रूप होती है, किन्तु वे जीव मे सर्वदा नहीं होते । अत. जीव को सर्वथा नित्य मानने से उसमे 'कर्तृत्व' की सिद्धि नहीं होती ।

"आकाश के समान अमूर्त्त होने के कारण भी आत्मा का ससार नहीं माना जा सकता ।"

"अनेक आत्माओ के स्थान पर एक ही सर्वगत व निष्क्रिय आत्मा क्यो न मानी जाय ?" **

इस प्रकार शिष्य ने गुरुदेव के समक्ष आत्मा के अकर्तृत्व/अक्रिय होने की तर्के प्रस्तुत की है । सक्षेप मे कि –"अकर्तृत्व का कारण आत्मा का अमूर्त्त, नित्य, सर्वव्यापी होना कहा गया है ।"

** विशेषावश्यक भाष्य गा. १९५४ गणधरवाद पृ १५४–५५

आगे आने वाले पदों मे सद्गुरुदेव शिष्य की इन पाचों जिज्ञासाओं/शकाओं का समाधान किया है, वह श्रोतव्य है ।

शिष्य ने 'आत्मा' के वारे मे विभिन्न मान्यताओ को प्रस्तुत करते हुए गुरुदेव से निवेदन किया कि –

"माटे मोक्ष उपाय नो, कोई न हेतु जणाय ।
कर्म तणुं कर्त्तापणु, कां नहीं कां नहीं जाय ॥७३॥"

"इसलिए मोक्ष/कर्म से मुक्त होने का हेतु/कारण नहीं ज्ञात होता यानि मोक्ष–हेतु भी निष्कारण होगा । क्योकि जीव मे कर्म का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता । यदि मान लिया जाय कि आत्मा कर्म का कर्त्ता है तो वह कर्म कभी नष्ट नहीं होगा । सदा कर्म करता ही रहेगा ।"

इस पद मे दो वातों का उल्लेख हुआ है –

एक – आत्मा मे अकर्तृत्व होने से मोक्ष उपाय निष्कारण है ।

दो – यदि कर्म का कर्त्ता है तो वह कभी कर्तृत्व से मुक्त नहीं होगा ।

शिष्य ने निवेदना की है कि गुरुदेव! जव आत्मा 'सदा असग' है; त्रिगुणात्मक प्रकृति ही कर्म का वन्ध करती है, ईश्वरेच्छा अथवा प्रेरणा से जीव कर्म करता है, इसलिए जीव अनिच्छा पूर्वक करने से 'अवन्ध' रहता है । फिर वह तो विभु है, निर्गुण है, पुण्य–पाप का वन्ध नहीं अथवा ससार नहीं है । वह कर्म से मुक्त नहीं होता, कर्म को मुक्त नहीं करता, अर्थात् वह अकर्त्ता है । वह वाह्य या आभ्यन्तर कुछ भी नहीं जानता, क्योंकि ज्ञान प्रकृति का धर्म है ।"***

*** स एष विगुणो विभुर्न वध्यते .. ।
'कर्माध्यक्ष सर्व भूतादिवास साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।"
–श्वेताश्वतर – ६/१

फलतः मोक्ष के उपाय का कोई हेतु हो, प्रश्न ही नहीं उठता ? कर्म का कर्त्ता होगा तो बन्ध होगा, बन्ध को नष्ट करने, अथवा मुक्त होने के लिए कोई उपाय हेतु भी मानना होगा, किन्तु कर्म का कर्त्ता आत्मा है ही नहीं, उसका कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता । ये सॉख्य एव औपनैषदिक मान्यता है ।

यदि आत्मा को कर्म का कर्त्ता मान लिया जाय तो वह उसका स्वभाव ठहरेगा, और स्वभाव कभी नष्ट नहीं होता, वह तो बना रहता है तो आत्मा कभी कर्म करने से मुक्त नहीं होगा, सदा करता ही रहेगा । जिस प्रकार जल का स्वभाव है शीतल, अग्नि का उष्ण है, वह कभी समाप्त नहीं होता, पहले भी यही स्वभाव था, अब है भविष्य मे भी रहेगा, इसी प्रकार आत्मा का कर्तृत्व धर्म भी उसका स्वभाव है तो वह दूर नहीं हो सकेगा , फलत; वह कभी कर्म मुक्त नहीं होगा, उसका मोक्ष नहीं होगा ।

शिष्य ने धरती पर रही 'कर्म कर्त्ता' की विभिन्न मान्यताओं का जिक्र करते हुए 'शका' को प्रकट किया है । उसका तात्पर्य है "कि – इन अलग–अलग नजरियो मे कौन–सा वास्तविक है यह निश्चय नहीं होता, कृपया आप समझाईयेगा ताकि ज्ञान हो सके ।"

बन्धुओ! आज भी धरती पर आत्मा तथा उसके कर्तृत्व–भोक्तृत्व पर नाना दृष्टिकोण पढने और सुनने मे आते हैं । व्यक्ति उनमे निश्चय नहीं कर पाता कि कौन–सा सही है, फलत· उसे नकार ही देता है, समझने का प्रयास ही नहीं करता बल्कि निराश होकर अदृश्य/अमूर्त्त तत्व को ही छोडकर प्रत्यक्ष पर ही विश्वास कर जीवित रहने का प्रयास करता है ।

यह ठीक है कि, ऐसे सूक्ष्म, मूर्त्त, नित्य–अनित्य अमूर्त्त पदार्थो का दृष्टिगोचर न होना सशय का कारण बनता है किन्तु बुद्धि, तर्क, युक्ति के माध्यम से अन्य दृष्ट पदार्थो के गुण धर्म के सहयोग से अनुभव किये जा सकते हैं किन्त मनुष्य का मन त्वरा स्थिति मे रहने से चचल है फलत वह शीघ्र ही ऊव जाता है ।

शिष्य ने इसीलिए गुरुदेव से इन गूढ तत्वो को सरलता से समझाने की विनय की है – **"ए अन्तर शंकातणो समजावो सदुपाय"** । मुझे सद्उपाय, अच्छे, सरल उपाय से समझाने का अनुग्रह करें । क्योकि मेरा अन्तर शकाकुल है, मेरा अन्तःकरण शकायुक्त है । पूर्व के ४८ वे पद मे भी मोक्ष के उपायो को मिथ्या वताते हुए शिष्य ने कहा था कि 'जबकि "आत्मा" ही नहीं है तो मोक्ष-उपाय सार्थक कैसे हो सकते है ।' यह चार्वाक दर्शन का दृष्टिकोण है ।

बस, आज इतना ही ।

अन्तिममंगल : अरिहन्त मंगल...। चत्तारि मंगलं...।

रविवार
२५ सितम्बर '८८

गुलाव सदन
१९ वर्टन रोड, वोलारम-१०
सिकन्द्रावाद

३

"छे कर्त्ता निज कर्म"

समाधान

"होय न चेतन प्रेरणा, कोण ग्रहे तो कर्म ?
जड़ स्वभाव नहीं प्रेरणा, जुओ विचारी मर्म ॥"

●

"जो चेतन करतु नथी थतां नथी तो कर्म ।
तेथी सहज स्वभाव नहीं, तेमज नहीं जीव धर्म ॥"

— श्रीमद्रायचन्द्र

७४ से ७८ पद

'छे कर्त्ता निज कर्म' : समाधान

गुरु और शिष्य सवाद के माध्यम से छः बातों की चर्चा है, उसमे तीसरा प्रसग चल रहा है । आत्मा है, नित्य है, ये स्वीकार हुआ शिष्य को, किन्तु "आत्मा कर्म का कर्त्ता नहीं है ।" कर्म करने वाला आत्मा नहीं है, यह एक नजरिया दृष्टिकोण है । षडदर्शन हैं और उन दर्शनो मे उसके लिए भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं, -"लेकिन कर्म का कर्त्ता कौन ? करने वाला कौन है, क्योकि - **"कर्त्ता जीव न कर्म नो."** - **"कर्मज कर्त्ता कर्म,"** अथवा **"सहज स्वभाव का,"** - **"कर्म जीव नो धर्म,"** **"आत्मा सदा असग ने करे प्रकृति बन्ध,"** - **"अथवा ईश्वर प्रेरणा,"** आदि कारण हैं 'इसलिए जीव/आत्मा तो "अबन्ध" है - निर्लेप है - **"तेथी जीव अबन्ध"** । अर्थात् जीव कर्म का कर्त्ता नहीं है, कर्म ही कर्म का कर्त्ता है/कर्म से ही कर्म होता है, या सहज रूप से, अनायास कर्म होता है, कर्म जीव का स्वभाव है । अथवा ईश्वर प्रेरणा से कर्म करता है । जीव असग है, प्रकृति से बन्ध होता है ।

पहली मान्यता : 'जीव कर्म का कर्त्ता नहीं है,' जब जीव कर्म का कर्त्ता नहीं तो फल का भोक्ता भी नहीं हो सकता, क्योकि **"जो करसी सो भोगसी"** - जो कर्म करेगा नहीं तो फल क्यो भोगेगा ? भोग ही नहीं सकता । पजाबी कहावत है -"नानी खसम करें, दोहता चट्टी भरे," - "करे कोई और भरे कोई", ये कैसे हो सकता है ? जब कर्म जीव करता ही नहीं तो वह फल कैसे भोगेगा, उसको फल भुगतने की जरूरत भी क्या है ? कर्म को न करना, निषेध हो गया । उन्होने कहा - 'जीव कर्म का कर्त्ता नहीं,' यह एक नजरिया है, एक दृष्टिकोण है ।

वन्धुओं! सर्व प्रथम यह समझना अनिवार्य है । 'आत्मा' के वारे मे दो दृष्टिकोण हमारे सामने आते हैं – एक वैदिक और दूसरा जैन । वैदिक दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य, अपरिणामी, एक, सर्वव्यापक, असग आदि मानता है । जवकि जैन दर्शन पारिणामी, नित्यानित्य, अनेक–पृथक्–पृथक्, क्षेत्र स्थित/शरीर परिमाणादि, कथचित् सग युक्त (उपाधि की दृष्टि से) मानता है । 'पारिणामी नित्य इसलिए मानता है कि उसमे चेतना है, चेतना है तो उसमे नाना प्रकार के अध्यवसाय हैं, और उन अध्यवसायों के आधार पर ही जीव विविध पर्यायों मे जीता है । अध्यवसायों के आधार पर ही परिणामी (विकारी) होता है । कारण के समाप्त हो जाने पर मात्र ज्ञाता/दृष्टा रहता है ।

'कूटस्थ नित्य' का अर्थ है जिसमे कोई स्पन्दना नहीं हो, हलन–चलन न हो, खूटे या स्तम्भ की भॉति स्थिर हो । मात्र दृष्टा–ज्ञाता, साक्षी रूप ।

परिणामी नित्य जीव ही स्वतन्त्र होता है । किसमे ? सोचने मे, प्रत्येक वस्तु को सवेदना के माध्यम से, क्योंकि सवेदन शक्ति है उसके पास, वह अनुभव करता है, भला–वुरा, अनुकूल–प्रतिकूल, अमुक ये सव, ये परिणामी नित्य के कारण ही तो हैं । 'कर्ता' जीव नहीं तो फिर कर्म कौन करता है, कर्म करते हुए और फल भुगतते हुए भी हम जीवों को देखते हैं, प्रत्यक्ष मे देखते हैं कर्म का फल भुगतते हुये सुख–दुःख, सयोग–वियोग, आदि नाना प्रकार का रूप हम सामने देख रहे हैं न! अच्छा, दूसरी वात अगर 'कर्म का कर्त्ता' स्वीकार न किया हो तो फल–अनुभव (भोग) का निषेध अपने आप हो जाता है, सिद्धान्त है – **'अण किया लागे नहीं, किया न वृथा जाय'** जव किया ही नहीं तो भोगेगा कहाँ से फिर तो जवरदस्ती हो गयी, क्यों ? जिसके गले मे फन्दा–फासी पूरी आ जाय उसको दे दो ! याद हैं न कहानी आपको,

"अंधेर नगरी, अनबूझ राजा ।
टके सेर भाजी, टके सेर खाजा ।"

यह अन्धेर नगरी का राजा कहता है – फासी का फदा जिसके गले मे आ जाये उसको दे दो । फिर तो यह अन्याय हुआ ! न्याय तो यही है कि 'कर्म के कर्त्ता' को उसका फल मिलना चाहिए । जब कर्म का कर्त्ता ही नहीं है जीव तो फल का भोक्ता क्यो ? किन्तु कर्मफल का भोग भुगतते हुए देखते हैं प्राणियों को। जैन धर्म और दर्शन ने स्पष्ट रूप से उद्घोषणा की है कि –'आत्मा ही सुख–दुख कर्म का कर्त्ता और विकर्त्ता है, कुमार्ग और सुमार्ग की ओर ले जाने वाला अपना ही आत्मा तो मित्र और अमित्र/शत्रु है।"* इस तथ्य से यही सत्य प्रतीत होता है कि जीव ही कर्म का कर्त्ता है, शरीर/इन्द्रिय और प्राणदि तो निमित्त हैं, सहकारी साधन हैं ।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब 'जीव कर्म का कर्त्ता नहीं है' तो कर्म के साथ जीव का सम्बन्ध भी नहीं हो सकता ! जीव और कर्म का जो सम्बन्ध है, उसी का नाम बन्ध है, पुनश्च बन्ध नहीं तो मोक्ष का तात्पर्य क्या रहेगा ? इस प्रकार कई प्रश्न खडे होते हैं जिज्ञासाएँ जन्म लेती है । क्योकि कर्म के निमित्त योग और कषाय है । योग बाह्य हैं– मन–वचन तथा काया की प्रवृत्ति । कषाय–क्रोध–मान–माया–लोभ परिणाम/भाव आन्तरिक है । किन्तु आधार तो 'चेतना' ही है। बिना चेतना के ये जडवत् है ।

गुरुदेव ने इन सब प्रश्नो का सटीक उत्तर दिया है । 'समाधान' के पॉच पदो ७४ से ७८ तक मे वस्तुस्थिति को सप्रमाण/तर्क/युक्ति/उदाहरण/दृष्टान्त पूर्वक समझाया है । यह श्रोतव्य है ।

"आत्मा किस प्रकार कर्म का कर्त्ता है" – उसका सद्गुरु ने समाधान किया है –

"होय न चेतन प्रेरणा, कोण ग्रहे तो कर्म ?
जड़ स्वभाव नहीं प्रेरणा, जुओ विचारी मर्म ॥७४॥"

---

* उत्त. २०/३७

"अर्थात् चैतन्य आत्मा की प्रेरणा रूप प्रवृत्ति न हो तो कर्मो को ग्रहण कौन करें ? क्योंकि जड का स्वभाव प्रेरणा (करना) नहीं है । यह जड़ और चेतन दोनों के धर्मो पर विचार करने से मालूम हो सकती है यानि यह मर्म/रहस्य विचार करने से ही ध्यान मे आएगा ।"

आओ! तनिक इस पर विस्तार से चर्चा कर ले –

इस पद मे दो तत्वो का उल्लेख किया है गुरुदेव ने, जो विशेष ध्यान देने योग्य हैं और वे (आत्मा द्वारा) कर्म के सग्रह के कारण को प्रस्तुत करते हैं ।

एक : चेतन की प्रेरणा–प्रवृत्ति न होने पर कर्म को ग्रहण करने वाला कोई न होना ।

दो : जड का स्वभाव प्रेरणा देना न होना ।

बन्धुओ! मेरी ओर ध्यान देगे तो यह तत्व सरलता से समझ मे आ सकेगा । क्या कहते हैं गुरुदेव, कि, यदि चेतन/आत्मा की प्रेरणा न हो कर्म को कौन ग्रहण करेगा ? क्योकि 'कर्म' मूल रूप मे – तत्वदृष्टि से जड़ है/अजीव है, तथा अजीव/जड मे 'प्रेरणा' करने की शक्ति – स्वभाव है ही नहीं । इसलिए विना चेतन की प्रेरणा के 'कर्म' नही वनता ।

यदि चेतन की विना प्रेरणा और जड से कर्म होता तो उसका घट–पटादि को 'क्रोध' आदि भावों मे परिणमन होना चाहिए तथा उसको/घट–पटादि को कर्म का ग्रहण करने वाला होना चाहिए, किन्तु ऐसा अनुभव अभी किसी को नहीं हुआ । इसलिए यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा/चेतन ही कर्म का कर्त्ता है ।

यदि कोई कहे कि, 'शरीर/इन्द्रियॉ/प्राणों से 'कर्म होता है', किन्तु ये काय/शरीरादि योग भी तो तत्त्वत. जड ही हैं । तो जड मे चेतना कहॉ ? अगर 'जड पदार्थ' कर सकता हो तो फिर ये कपाट, खम्भा आदि इनको सवको करना चाहिए ?

लेकिन नहीं । किसी के निमित्त से करता है जड भी ? हॉ, चेतना जब तक साथ नहीं देती/आत्म-स्फुरणा जब तक नहीं होती, तब तक जड भी हरकत नहीं कर सकता। यह करन्ट है, तो आपके ये एम्पलीफॉयर, माइक, स्पीकर आदि सब क्रियाशील है, आवाज पकडते हैं, हैना ? और यदि विद्युत-तरग/'करन्ट' चला जाय तो ये सब कुछ पडे रह जाते हैं । इसी प्रकार इन्द्रिया, मन/प्राण शरीर भी हैं, किन्तु इनकी नियता जो 'चेतना' है, यदि वह न रहे/निकल जाये, तो फिर शरीर के अग-उपाग जो भी हैं स्थिर हो जाते हैं। क्योकि जहॉ-जहॉ चेतना सुकुड जाती है, ये अग निष्क्रिय/बेकार हो जाते हैं । जिसको 'लकुवा', फॉलिज, अधरग भी कहते हैं । आत्मशक्ति से शरीर के सारे व्यापार चलते हैं ।* अत कहा है - **"आत्मशक्त्या शरीरस्य सर्वो व्यापार इष्यते ।"** बस, ये ही स्थिति है शरीर-आत्मा की । आत्मा/जीव/चेतन की प्रेरणा स्फुरणा के बिना कर्म नहीं होता । यदि जीव ही कर्म का कर्त्ता है - केवल शरीर, इन्द्रिय नहीं । क्योकि कहा भी है -"आत्म-शक्ति के अभाव मे नेत्रो की क्या आवश्यकता है ? उस आत्म-शक्ति के होने पर ही मानव दृश्य पदार्थो को विशिष्ट रूप से देख सकता है ।"— सर्वेन्द्रियसमूहात्मक लोक मे यही दशा है । अर्थात् कार्य सम्पन्न करने वाले आत्मबल के विद्यमान होने पर ही इन इन्द्रियो का बल कार्य करता है ।**

दूसरी मान्यता · कि, **"कर्म ज कर्त्ता कर्म,"** - कर्म ही कर्म का कर्त्ता है , अर्थात् 'कर्म से ही कर्म होता है,' शिष्य ने ६० वे पद मे शका व्यक्त करते हुए कहा था । यह सिद्धान्त भी ठीक से घटित नही होता, क्योकि कर्म भी स्वय मे कौन है ? कर्म भी जड है, तो जड से फिर कर्म होता है ? ऐसा नहीं, ये उस सिद्धान्त मे लागू नहीं होता

---

* श्रीमज्जवाहर यशो. महा. सर्ग - १२/७६-७७ श्लो

** वही, ६७

कि 'रिजक से रिजक आती है," पैसे से पैसा कमाया जाता है ।

यह सुन लिया था किसी ने कि रूपये से रूपया मिलता है, ये जो लाले लोग सर्राफी/सोने-चॉदी की दुकान करते हैं, इनके पास चॉदी के रूपये होते हैं, और ये रुपये से ही रूपया कमा लेते हैं । एक दिन वह बाजार मे चला गया, सर्राफ की दुकान देखी, तो वहॉ ढेर लगा हुआ है रूपयों का । पहले चॉदी के रूपये होते थे न, तो उन्हें ऐसे लगा करके रख देते थे । हॉ, दूर से देखा एक दुकान, दो दुकान, तीन दुकान, चार दुकान पर देखा तो चॉदी के रुपयो के ढेर लगे हुए है, और ऐसा देखकर मन मे ख्याल आया, कि रूपये से रूपये मिलता है, रूपया, रुपये को लेकर आता है । बिचारे के पास एक चॉदी का रूपया था, उसको उन रूपयो के ऊपर फेक दिया, और खडा देखता रहा कि अब आता है, अब आता है । कैसे रुपया आता ? तो आना जाना क्या था वह तो वहीं रह गया । जब बहुत देर खडा रहा तो दुकानदार कहता है – भाई! तू क्यों खडा है ? जाओ! दुकान के आगे से । कहता है –'नही', मैने एक रुपया भेजा है, और वह रुपया, रूपये को लेकर आयेगा," कहते हैं 'कहॉ भेजा है ? ये तो हमारे हैं,' 'नहीं, मैने एक रुपया डाला है इसमे ।" अब मानेगा क्या कोई कि रुपया उसने डाला है इसमे, उस बिचारे का अभिप्राय है कि वही स्थिति हमारी न हो कहीं – **"कर्म से ही कर्म होता है"**। और हम हाथ पर हाथ रखे बैठे रहे । कर्म तो जड है, इसलिए ये सिद्धान्त लागू नहीं होता । जब तक जड कर्म मे भी क्या नहीं ? चेतना की स्फुरणा नहीं होती तब तक जड कर्म भी सक्रिय नहीं होता । इसलिए 'आत्मा' को तो हर दृष्टि से कर्म का कर्त्ता मानना ही पडेगा, चाहे कान को आप सीधा पकडो और चाहे हाथ घुमा करके पकडो, अन्ततोगत्वा कान पकडने की क्रिया जो है वह करनी ही पडेगी । इसी तरह से चेतना को, आत्मा को तो हर जगह स्वतत्र और कर्त्ता स्वीकार करना ही पडेगा । बिना 'आत्मा'

के कोई क्रिया-अनुष्ठान नहीं है हमारा । इसलिए जीवन का मूल आधार आत्मा ही तो है और इसमे हम आत्मा को 'अकर्त्ता' मान ले, 'अक्रिय' मान ले कि 'आत्मा कर्त्ता नहीं है, तो फिर करने वाला कौन ? हॉ, **"कर्त्ता जीव न कर्मनो कर्म ज कर्त्ता कर्म,"** जीव कर्म का कर्त्ता नहीं बल्कि कर्म ही 'कर्म' का कर्त्ता है तो कर्म से कर्म होता है, तो इसमे कोई सच्चाई नहीं है । जीव की स्फुरणा के बिना जडकर्म निष्क्रिय है । कहा भी गया है कि "ससार मे कर्म का जन्म जड के चेतन के साथ मिलने पर ही होता है । पुद्गल तथा आत्मा के सम्मिश्रण से ही कर्म का निर्माण होता है । वे पुद्गल तो जड कहे गए है तथा सदा सर्वथा चेतना से विशिष्ट को जीव कहा गया है ।" * एक दृष्टान्त से समझने का प्रयत्न करें,-

आपने देखा होगा, एक आदमी शराब पीता है । जीवित रहता हुआ शराब/मदिरा पीता है अथवा कोई भी मादक द्रव्य का सेवन करता है तो मादक द्रव्य अपना प्रभाव देता है, लेकिन मृत आदमी को शराब पिलाई जाय तो, क्या फिर भी नशा देगा उसको ? नहीं, (श्रोताओ मे से) क्योकि नशा ग्रहण करने वाली जो चेतना शक्ति हैं, ताकत है वह क्या हो गई समाप्त हो गयी, इसलिए उस मादकता का कोई प्रभाव नहीं वहॉ । क्योकि ग्रहण करनेवाला ही नहीं है कोई, तो इसलिए ये बात निश्चित है कि जो फल देता है, वह भी बिना 'चेतना' के नहीं, और 'कर्म से कर्म होता है' तब भी उसके पीछे सूक्ष्म रूप मे चेतना-स्फुरणा ही काम करती रहती है । कर्म का फल बिना चेतना के नहीं भोगा जा सकता, चेतन है तो फल भोगता है, और चेतन नहीं है, चेतना समाप्त हो गयी, तो फल का भोग/सवेदन भी कहॉ ? जो ऋणी व्यक्ति मर जाये या दिवाला निकाल दे उसका भुगतान कहॉ होता है, होता है क्या ? उसका भी भुगतान नहीं होता तो फिर यहॉ कर्म का भुगतान कैसे होगा, जब आप चेतना को ही समाप्त कर देते हैं । लेकिन देह/शरीर-इन्द्रिय प्राणादि के

---

* "जडैश्च साकचिति चेतनस्य, सम्मिश्रमणात्कर्मजनिर्जगत्याम् ।
जडाश्च शिष्टा बहुपुद्गलास्ते, जीवस्सदा चेतनता विशिष्ट ॥"
वही, कर्म सिद्धान्त १३ सर्ग, ३० श्लोक

नष्ट हो जाने पर भी चेतन/आत्मा तथा उसके द्वारा कृत कर्म सत्ता मे बरावर बने रहते हैं जब तक उनकी निर्जरा नहीं होती ।

सद्गुरु कहते हैं –"जड कर्म मे प्रेरणा रूप धर्म नहीं होने से वह कर्म को ग्रहण करने मे असमर्थ है । कर्म का कर्त्तापन तो जीव मे ही है, क्योकि उसमे प्रेरणा शक्ति है ।"

कर्म आदि को ग्रहण करने की ग्राह्य शक्ति तो चेतन ही है । और बहुत सीधी सी वात है 'कर्म, कर्म का कर्त्ता है' ये बात ठीक नहीं जॅचती । क्यो नहीं जॅचती ? इसलिए कि कर्म जड है और जड मे क्या नहीं है प्रेरणा नहीं है । एक दृष्टान्त से समझने का प्रयत्न करें –

आदमी चला जा रहा है, मार्ग मे पत्थर की ठोकर खाता है, तो पत्थर सभलता है कि आदमी सम्भलता है ? आदमी सम्भलता है, ठोकर से आदमी प्रेरणा लेता है—"कि अगर मै ठीक से न चला और भी ठोकर लग जायेगी," तो आदमी ने प्रेरणा ली, चेतन ने प्रेरणा ली । जड़ क्या प्रेरणा लेगा ? इसलिए कर्म का जो मूल कर्त्ता है वह कर्म नहीं है उसके पीछे चेतन की क्या है प्रेरणा है, स्फुरणा है । भोजन आदि हर क्रिया, कार्य के पीछे चेतन–प्रेरणा है, इसके अभाव मे कौन ग्रहण करेगा ? क्योकि **"कौन ग्रहे तो कर्म ।"** फिर **'जड़ स्वभाव नहीं प्रेरणा'** "जड़ का स्वभाव प्रेरणा नहीं है" यह जड–चेतन दोनों के धर्म–स्वभाव पर विचार करने से अनुभव होगा ।

यहॉ एक अन्य जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि "कर्म ही कर्म करता है" तो कर्त्ता भी कर्म हुआ यानि करने वाला भी कर्म, किया जानेवाला भी कर्म है, तो कर्त्ता और कर्म मे अन्तर क्या रह गया ? जो करने वाला है वह कर्त्ता कहलाता है, तथा जिसे किया जाय या जो करणीय है वह 'कर्म' होता है । इस दृष्टि से 'कर्म' कभी कर्त्ता नहीं हो सकता । व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से भी 'कर्त्ता' की क्रिया का फल कर्म है, कर्म अपने स्थान पर ही रहता है । दोनों का उपकार पृथक् है । एक का करना है, दूसरे का होना है ।

भले ही लिखने और बोलने मे कहीं कर्त्ता को प्रधान तो कही कर्म को मुख्य मान लिया है । इसे कर्तृवाच्य और कर्म वाच्य कहा है । किन्तु क्रिया का फल कर्म होता है उस कर्म का फल–सुख–दुख, सयोग–वियोगादि हैं ।

हमारे गुरुमह महाराज एक छोटा–सा दृष्टान्त सुनाया करने थे । एक नौजवान चला हुआ जा रहा था साईकल पर । सडक पत्थरीली थी, कही कोई नुकीला ककर लगा तो उसका टॉयर फट गया । बहुत पीडित हुआ मन, होता भी है, जांते हुए बीच मे जब कोई बाधा आ जाये तो पीड़ा होनी स्वाभाविक बात है । आप भी कहीं जा रहे हो और रास्ते मे कही रेल्वे का फाटक बन्द मिल जाए तो आपको बडी खुशी होती होगी न कि आराम मिल रहा है 'नहीं '। वह भी काम मे बाधा है, और मन यही चाहता है कि मेरा कोई भी काम निर्विघ्न/बिना बाधा के हो जाय ।

बस, यही जीवन स्थिति है । नौजवान भी ककर लगने से साईकल बेकार होने पर उससे वह क्षुभित होकर अपने आप को काबू नही रख सका फलत मन मस्तिष्क का सन्तुलन बिगड गया और जो नुकीला ककर था, उसने ककर को कोई बडा पत्थर लेकर निकाला उसको । अब जहॉ से वह पत्थर निकालेगा तो खड्डा तो हो ही जाय़ेगा स्वाभाविक बात है, और एक के साथ दूसरा पत्थर–टुकडा टिका था, रुका था, जब उसने निकाला तो ढीला पड गया दूसरा निकला, उसको भी निकाल दिया, ये भी खराब करता है और करेगा भी उसको भी निकाला और उसके साथ तो दूसरा निकल गया, तीसरा निकल गया, उठा–उठा के फेकता रहा गड्ढा हो गया बडा। आने–जाने वालो ने देखा यह क्या कर रहा है, परेशान हुआ है, पागल है, कौन है, पूछा—"अरे! भई तू क्या कर रहा है ?" कहता है – "इसने मेरी साईकल खराब कर दी, "तो फिर क्या किया तूने ?" कहता है "निकाल कर बाहर फेका है ।" "अरे भाई। दूसरा भी उसके साथ ढीला पड गया, तीसरा भी, इसी तरह सब ढीले पडते जायेगे निकालते रहोगे। इस सडक को भी जहॉ तक तेरी ताकत है

निकालता रह यह कभी खत्म नहीं होगे ।" समझाया—अरे! इससे तो और ज्यादा नुकसान हो गया क्योकि खड्डा पड गया, आने जाने का मार्ग अवरूद्ध हो गया ? यहाँ तो गुजरना कठिन हो गया । "फिर क्या करूँ ?" कहते हैं, जहाँ है उनको वहीं लगा दे, अन्यथा सभी पीडित होंगे, अब तो तुम एक ही पीडित हो ।"

बन्धुओ। विचार, स्फुरणा और ज्ञान कहाँ से आया ? तो प्रश्न चल रहा था कि चेतन के बिना प्रेरणा/स्फुरणा कहाँ प्राप्त होती है । अनुभव से वस्तु-स्वरूप स्पष्ट होता है, चिन्तन मनन करें । हमे अनुभव कम रहता है पठित और श्रुतज्ञान अधिक रहता है इसलिए हम जो पढते हैं और जो सुनते है उसके आधार पर मन बना लेते है, लेकिन अनुभव करके देखिए कि 'यह प्रेरणा कौन देने आता है; चेतन देने वाला है या जड देने वाला है ?' जड ने कभी किसी तो आज तक प्रेरणा नहीं दी न ही ऐसा कोई उदाहरण मिला है । कवि की कल्पनाओ मे भले ही पत्थर बोलता हो, भले ही वृक्ष बोलता हो, तारे टिमटिमाते हुए कुछ कहते हो ये सब क्या है ? मस्तिष्क की कल्पनाये है, और ये प्रतीक हैं व्यक्ति की मनोभावनाओ के और वे भी किस लिए, आदमी को समझाने के लिए कवि की कल्पना है । और वह कल्पना भी चेतन ही कर रहा है न! कि पत्थर बोल रहा है, बोलता है क्या, पत्थर तो नहीं बोलता लेकिन कौन बोलता है चेतन बोलता है । मूलभूत स्थिति आज बहुत तेजी के साथ बदल रही है । हर चीज को वे विज्ञान-यत्र तत्र से तोलने लगे, और विज्ञान ऐसा ही साधन बन गया, जिसको वे चेतन बना देना चाहते है लेकिन निर्माण किसने किया ? उसमे यत्र किसने स्थापित किये, उसका जो कुछ स्वरूप आया विकास हुआ, किसने किया ? चेतन ने ही किया, तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि जड करता है जड मे भी कर्तृत्व है, करने की शक्ति है वह किसी के बारे मे नहीं सोच सकता, वह स्वत है, परत नहीं है उसमे लेकिन चेतन चेतना शक्ति से स्वय जहाँ अपने बारे मे सोचता है वहाँ दूसरे के बारे मे भी सोचता है । बस, यही

अन्तर है उसके व्यक्तित्व, कर्तृत्व मे । तो इसलिए मै कह रहा था आपसे कि यहॉ गुरुदेव ने क्या कहा, **"जड़ स्वभाव नहीं प्रेरणा, जुओ विचारी मर्म,** देखो और मन मे इस मर्म/रहस्य के बारे मे विचार करो । और—

"जो चेतन करतु नथी, थता नथी तो कर्म ।
तेथी सहज स्वभाव नहीं, तेमज नही जीव धर्म ॥"

"अर्थात् जो कर्म चेतन करता नहीं, वह कर्म नहीं होता, इस कारण कर्म जीव का सहज स्वभाव नहीं है । यह अक्षरश· सत्य है ।"

तीसरी मान्यता "अथवा सहज स्वभाव," या यूॅ कहें कि 'कर्म जीव का सहज स्वभाव है,' ऐसा मान कर चले, तो आत्मा कभी कर्म करने से मुक्त हो नहीं सकती, निष्कर्मा हो नहीं सकता वह तो सदा ही कर्म सलग्न रहेगा । क्योकि कर्म करना स्वभाव मान लिया जाय तो वह जीव का धर्म हो जाता है और स्वभाव/धर्म का कभी नाश नही होता फलत मुक्त नहीं होगा । कर्मक्षय करने के बाद मुक्त अवस्था की उपलब्धि होती है, मोक्ष मिलता है । और मोक्ष की यह परिभाषा भी सार्थक नहीं रहेगी – **"कृत्स्न–कर्मक्षयो मोक्षः",**—किये हुए सम्पूर्ण कर्मो का नाश कब के लिए है ? सदा, सर्वदा के लिए, इसका नाम क्या है, 'मोक्ष' है । इसलिए कर्म को जीव का स्वभाव नहीं माना जा सकता । वह विभाव है, उपाधि है । यह जड का स्वभाव है, आत्मा ने प्रमाद/अज्ञान/मोह से मोहित, भ्रमित होकर स्वीकार कर लिया है, स्वरूप का अनुभव होते ही छोड देगा, मुक्त हो जायेगा ।

यह स्वभाव क्या होता है ? (श्रोता का प्रश्न)

हॉ, स्वभाव निज गुण होता है, पदार्थ का अपना धर्म होता है । जो निजगुण होता है, निज स्वरूप होता है अथवा स्वभाव कहते है अपने गुण धर्म को, विभाव कहते हैं दूसरे का गुण, धर्म । दूसरे का गुण–धर्म जब हम ग्रहण

करते हैं, तो वह 'स्वभाव' नहीं होता 'विभाव' होता है । वह बाहर से आया है जो आगत है वह जाने वाला है । जैसे, क्रोध, लोभ आदि भाव आते हैं अत जाते भी हैं किन्तु शान्ति, अनिच्छादि आन्तरिक है, वे अन्तर मे है फलतः जाते नहीं, सदा बने रहते हैं ।

तत्वदृष्टि से यदि विचार किया जाए तो क्रोधादि विभाव/पर-परणतिया एव औदयिक भाव हैं । सत्ता मे रहे कर्म/आत्मप्रदेशो पर स्थित कर्म पुद्गल अथवा तद्कर्म प्रकृति उदय मे आती हे तो वह अपना फल देकर निर्जरित हो जाती है । नष्ट हो जाती है पुन. वह फल नहीं देती, कहॉ से देगी ? उसका अस्तित्व ही नहीं है । उदित की ही निर्जरा है । फलत· तत्कर्मजन्य विभाव परणति भी नष्ट हो जाती है । पुन सत्ता मे रही प्रकृति उदय मे आती है तो पुन. पुन या वार-वार विभाव परणति आती है । समभाव मे रहकर वेदे/अनुभव करें तो उदित की निर्जरा हो जाती है और नवीन कर्म का वन्ध नहीं होता । इस आशय को लेकर ही कह रहा हूँ कि क्रोधादि विभाव है और वाह्य है, आगत हैं, गृहित है । जानेवाले है । इस विभाव कर्म से रहित होने का नाम ही 'वन्धन से छुटकारा है,' कर्म ही तो बन्धन है न! राग, द्वेष, मोह कर्म ये सव वन्धन के कारण हैं । इन्हे नष्ट करना ही होता है । इसलिए यह तीसरा दृषिटकोण भी ठीक नहीं जचता—**'कर्म जीवनो धर्म'** । कर्म तो जीव का धर्म है/ तो करो कर्म। फिर मुक्ति की क्यो चिन्ता ? कि हम वन्धन से मुक्त हो जाये, ऐसी सोच क्यो, ऐसी सोच भी व्यर्थ है, क्योकि धर्म ही वन गया जव कर्म हमारा। किन्तु आदमी का स्वभाव है दुखादि जो प्रतिकूल है उन्हें सहन नही करता । वह प्रतिकूल को दूर करने के लिए और अनुकूल को ग्रहण करने के लिए लालायित रहता है फलत. कर्म 'स्वभाव' नहीं ठहरता, विभाव ही है ।

तीसरी मान्यता मे कहा गया था कि **'अथवा सहज स्वभाव का : कर्म जीवनो धर्म'** यानि **'कर्म करना'**

जीव का सहज स्वभाव है इसलिए जीव–धर्म है । किन्तु यह मान्यता भी कसौटी पर खरी नहीं उतरती । कर्म का सहज रूप मे होते रहना अथवा अनायास होते रहना कैसे सभव है ?

सद्गुरु ने बताया है इस बारे मे कि –

"जो चेतन कर तु नथी, थतां नथी तो कर्म ।
तेथी सहज स्वभाव नहीं, तेमज नहीं जीवधर्म ॥७५॥"

अर्थात् 'आत्मा जो कर्म नहीं करता है, तो वह कर्म नहीं होता ।' — इस कारण से 'सहज स्वभाव किवा अनायास होता है' घटित नहीं होता । इस प्रकार यह 'जीव का धर्म' भी नहीं ठहरता क्योकि स्वभाव का नाश नहीं होता तथा आत्मा कर्म नहीं करता तो कर्म होता नहीं, इसलिए यह कर्म टल सकता है दूर हो सकता है, इस कारण से कि आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं है कर्म करना ।"

इस पद मे दो बातों का स्पष्ट उल्लेख किया है कि –

पहली – "जिस कर्म को चेतना/जीवात्मा नहीं करता वह कर्म नहीं होता ।"

दूसरी – "इस कारण से कर्म का होना सहज/अनायास नहीं, अत वह जीव का धर्म नहीं है, स्वभाव नहीं है ।"

इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'कर्म करने से होता है' स्वभाव, सहज, अनायास नहीं होता । करण वीर्य नामा आत्म–शक्ति की स्फुरणा के बिना मनादि योगों मे प्रवृत्ति/परिस्पन्दन तथा भावो की स्फुरणा नहीं होती तो 'कर्म होने का' प्रश्न ही नहीं होता । अपन 'कर्म' क्या है इसके बारे मे ध्यान दे ले तो 'कर्म का होना सरलता से समझ मे आ सकेगा ।'

कर्म, कार्माण वर्गणा /कर्म बनने योग्य सूक्ष्म पुद्गलों/परमाणुओ के समूह से बनता है । यह वर्गणा आकाश मडल मे इतस्ततः/इधर–उधर विकीर्ण है । यह जड़ है । चेतन/जीवात्मा अपनी इच्छा से, स्फुरणा से मनादि योगो के निमित्त तथा कषायादि भावों के आकर्षण से स्व–आकाश प्रदेश स्थित कर्म परमाणुओ/स्कन्धो को अपने आत्म–प्रदेशो मे स्थित कर लेता है, यही कर्म का होना है, कर्म का करना है । इसे ही 'कर्म का कर्त्ता' कहा जाता है । इसमे चार तत्वो पर ध्यान देना है –

- जीव मे कर्म करने की इच्छा,
- करणवीर्य की स्फुरणा,
- मनादि/योगो/मे परिस्पन्दना की उत्पत्ति,
- आत्म—परिणामो का मन्द–तीव्र अनुपात मे जागृत होना तथा स्व–क्षेत्रस्थित आकाश प्रदेश मे रहे कर्माणुओ का ग्रहण करना ।

ये ही कर्म करने तथा कर्म के वन्ध मे उपादान और निमित्त हैं । कोई भी कार्य विना उपादान एव निमित्त के नहीं होता । किन्तु उन कारणो के विद्यमान होने पर भी उसका योजक अथवा आदाता तो स्वीकार करना पड़ेगा न ? वह योजक है चेतन/आत्मा । इसकी प्रेरणा/स्फुरणा, इच्छा आदि के बिना कर्तृत्व घटित नहीं होता । जैसे बर्तन के लिए मिट्‌टी उपादान/ रॉ मैटिरियल/मूल सामग्री है, चाक/चक्र, सूत्र आदि निमित्त हैं तथापि कुम्हार के बिना बर्तन निर्माण सभव नहीं है । इसी प्रकार जीव कर्म को करता है, तो ही कर्म होता है अन्यथा नहीं । इसके लिए तीन तत्व ध्यान देने योग्य हैं – आदेय, आदान, आदाता ।

- आदेय/ग्रहण करने योग्य कर्म है ।
- आदान—मनादि योगो की प्रवृत्ति है जिससे कर्म–प्रकृति आदि का ग्रहण करता है ।
- आदाता—आदेय और आदान का मध्यवर्ति/योजक । कौन है? चेतन/आत्मा की परिस्पदनात्मक चेतना ।

इन युक्तियो से स्पष्ट है कि कर्म सहज और अनायास नहीं होता, वह कृतक है ।

बन्धुओं। शिष्य की इस जिज्ञासा कि **"अथवा सहज स्वभाव का कर्म जीव नो धर्म"** पर गुरुदेव ने समाधान देते हुए कहा है कि –

"जो चेतन करतुं नथी, थतां नथी तो कर्म ।
तेथी सहज स्वभाव नहीं, तेमज नहीं जीव धर्म ॥"

"अर्थात् चेतन के किए बिना कर्म नहीं होता क्योकि उसे ग्रहण करने वाला कोई नहीं है । चेतन के अतिरिक्त, जड का स्वभाव प्रेरणा देना नहीं है, चेतन का ही यह धर्म है । इसलिए कर्म जीव का 'सहज स्वभाव' नहीं है । कृत कर्म दूर होता है, आगम मे उल्लेख है कि कृत कर्म की निर्जरा होती है/अर्थात् आत्मप्रदेशो से पृथक होते है । अत यह जीव का धर्म नहीं है ।" इन सब बातो पर ध्यान देना अनिवार्य है क्योकि विचार करने से ही स्वरूप ज्ञान की प्राप्ति होगी – **'कर विचार तो पाम ।'**

(क्रमशः)

छे कर्त्ता निज कर्म : समाधान (दो)

अब अपन 'कर्म-कर्त्ता' के 'सहज स्वभाव' पर प्रकारान्तर से तथा अन्य दर्शनो की मान्यता पर भी विस्तार से चर्चा कर ले—,

अब तक इन बातो पर चर्चा हो गई है –'जीव कर्म का कर्त्ता नहीं है, कर्म ही कर्म का कर्त्ता है, कर्म करना सहज-स्वभाव है – जीव का धर्म है ।' किन्तु श्रीमद् ने "आत्मसिद्धि शास्त्र" मे इन प्रसगो पर टिप्पणी मे बहुत सुन्दर विश्लेषण दिया है उस पर भी विचार कर ले, उसका पारायण भी अनिवार्य है ।

"अब तुमने जो यह कहा कि कर्म अनायास ही होते हैं इस पर विचार करते हैं कि अनायास कहने से तुम्हारा मतलब क्या है ? –

(क) क्या आत्मा के बिना विचारे हो गए ? या

(ख) आत्मा का कुछ कर्तृत्व न रहने पर भी जो हो गए ?

(ग) अथवा ईश्वर आदि द्वारा कर्म चिपका देने पर अपने आप हो गए ?

(घ) या प्रकृति के बलात्कार से हो गए ?

इस प्रकार मुख्य चार विकल्पों से 'अनायास कर्तृत्व' का विचार करना आवश्यक है । इनमे पहला विकल्प है – 'आत्मा के बिना विचारे हो गए ।'

– 'जो ऐसा हो तो कर्म का ग्रहण करना बन ही नहीं सकता, और जहॉ कर्म का ग्रहण करना नहीं वहॉ कर्म का अस्तित्व भी सभव नही ।'

– और यह बात भी प्रकट अनुभव मे आती है कि जीव प्रत्यक्ष चिन्तन करता है, ग्रहण करता है, छोड़ता है । आत्मा यदि क्रोधादिक भावो मे किसी प्रकार भी न होने को सयत्न रहे तो वे उसमे उत्पन्न हो ही नहीं सकते । इससे यह जाना जाता है कि आत्मा के विचार किए बिना अथवा आत्मा ने जिन्हें न किया हो ऐसे कर्मो का ग्रहण आत्मा के

द्वारा हो ही नही सकता । मतलब यह है कि इन दोनों प्रकारो से कर्मो का अनायास ग्रहण सिद्ध नहीं हो सकता ।* शेष दो प्रश्नो का उत्तर आगे 'ईश्वर प्रेरणा से कर्म होते हैं' मे हैं ।

श्रीमद् ने टिप्पणी मे लिखा है – "हवे तमे अनायास थी ते कर्मो थता होय" एम कह्यु ते विचारिअे ।" यहॉ 'अनायास' शब्द का प्रयोग किया है । अपन पहले 'अनायास' शब्द के अर्थ को समझ ले । 'अनायास' का अर्थ है—अचानक, सहसा, बिना प्रयास, अकस्मात् ।

यहॉ "आत्मा कर्म का कर्त्ता–भोक्ता है," इस पद पर विचार चल रहा है । किन्तु आत्मा को कूटस्थ नित्य/अपरिणामी नित्य माननेवाले दर्शन उसे असग/निर्लेप मानते हैं, वह केवल द्रष्टा है कर्त्ता नहीं है । कर्म करना प्रकृति का काम है पुरुष/आत्मा का नहीं ।

अब प्रश्न उठता है फिर कर्म/सुख–दु ख कैसे आये जीवन मे ?

इस प्रश्न के लिए उत्तर दिया गया है जिसका उल्लेख श्रीमद् ने शिष्य की शका के रूप मे किया है, "कर्म ज कर्त्ता कर्म," " अथवा सहज स्वभाव का," 'कर्म ही कर्म का कर्त्ता है', इसमे जड–प्रकृति को मुख्य क्रियाशील रखकर कहा है । वेदान्त एव योग दर्शन मे माया, अविद्या, क्लेश ही कर्म बन्ध का कारण है । क्योकि जीव तो शुद्ध ब्रह्म का ही अश माना है ।

दूसरे दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करने वाला 'स्वभाववाद' है । यह भी भगवान महावीर के युग मे विद्यमान था । यह चार्वाक दर्शन का ही एक प्रकार था जो वस्तु की उत्पत्ति और विनाश के लिए कहता है कि, "यह स्वाभाविक रूप से अपने आप/स्वत होता रहता है । इसका कोई कारण नहीं है, न प्रत्यक्ष न परोक्ष मे ।" वैसे गीता, महाभारत आदि मे भी 'स्वभाववाद' दृष्टिकोण मिलता है । जैसे कि—

---

* श्रीमद् रायचन्द्र, आत्मसिद्धि टिप्पणि – ४५७.

"न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सजति प्रभु: ।
न कर्म फल सयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥"**

इसके साथ ही एक दूसरा 'वाद' प्रचलित था 'यदृच्छावाद,' यह वाद भी प्राचीन है । श्वेताश्वेतर उपनिषद् मे 'यदृच्छा' का उल्लेख है । इस 'वाद' का मन्तव्य है कि किसी भी नियत कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति हो जाती है । 'यदृच्छा' शब्द का अर्थ है अकस्मात् । अर्थात् किसी भी कारण के बिना । न्याय सूत्रकार ने इसी 'वाद' को यह कर उल्लेख किया है कि – 'अनिमित्त–निमित्त के बिना ही काटे की तीक्षणता के समान भावो की उत्पत्ति होती है' ऐसी मान्यता वाला वाद है ।

अनिमित्तवाद, अकस्मात्वाद और यदृच्छावाद, ये एक ही अर्थ के द्योतक हैं । ऐसा मानना चाहिए । कुछ लोग 'स्वभाववाद' और 'यदृच्छावाद' को एक ही मानते हैं किन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है । इन दोनो मे यह भेद है कि स्वभाव वादी स्वभाव को कारण रूप मानते हैं; किन्तु यदृच्छावादी कारण की सत्ता को ही अस्वीकार करते हैं ** ।

भगवान महावीर ने भी 'स्वभाववाद' का उल्लेख करते हुए उसे 'अक्रियावादी' की सज्ञा दी है । सिद्धान्तत कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति–निष्पत्ति किस प्रकार हो सकती है ? कारण से ही कार्य होता है । इसकी पुष्टि पुरुष और प्रकृति के सयोग एव भेदज्ञान से हो जाती है–,

पुरुष/आत्मा तो द्रष्टा मात्र है, कूटस्थ नित्य है, चैतन्य है, निर्गुण है । किन्तु कर्म का बन्ध तो त्रिगुणा प्रकृति ही करती है । पुरुष तो सत्व–रजस–तमस गुणो वाली प्रकृति से उत्पन्न अव्यक्त, बुद्धि अहकार के कारण प्रकृति के कार्यो को अपना अर्थात् 'अनात्म मे आत्म बुद्धि' समझ कर दुःखी होता है तथा ससार मे फसा हुआ मानता है । प्रकृति और पुरुष का भेदज्ञान होते ही मोक्ष हो जाता है ।

** गीता ५/१४
** प. फणिभूषण कृत न्यायभाष्य का अनुवाद ४/१/२४.

साख्य व योगदर्शन दोनो ही 'बन्ध' का कारण भेदज्ञान न होना तथा अविवेक ही मानते है । साथ ही नैयायिक और वैशेषिक दर्शनो ने भी 'अज्ञान' को ही बन्ध का कारण माना है, किन्तु जीवात्मा को शुद्ध अकर्त्ता ही कहा है ।

बन्धुओ! आगम मे इन्हें 'अकारकवादी' कहा है – "आत्मा न स्वय क्रिया करता है न दूसरे से करवाता है, इसी प्रकार वह सभी क्रियाएँ नहीं करता अतएव 'आत्मा' अकारक है ।* ऐसी मान्यता वाले 'आत्मा' के अस्तित्व को तो स्वीकार करते हैं किन्तु उसे कर्त्ता नहीं मानते उनके मत मे चारगति रूप ससार किस प्रकार हो सकता है ? अर्थात् आत्मा यदि शुभाशुभ 'कर्मों का कर्त्ता' नहीं है तो वह कभी नारक, कभी देव, कभी मनुष्य, और कभी तिर्यच योनि कैसे धारण करेगा ?** इस प्रकार वे अज्ञानी जन एक अज्ञानान्धकार से निकल कर दूसरे अज्ञानान्धकार को प्राप्त होते हैं ।—'भूतवाद' के अज्ञान से अलग होकर भी 'अक्रियावाद' के अज्ञान मे फसे हैं । वे जीव को अकर्त्ता मानकर आरभ/हिसादि मे आसक्त हो जाते हैं अतएव 'तम' मे जाते हैं ।"*** जैन दर्शन ने 'आत्मा' को 'परिणामी गुण' वाला 'नित्य' माना है, कूटस्थ नित्य नहीं फलत जो आत्मतत्व को स्वीकार करता है वह आत्मवादी है, लोकवादी है, कर्मवादी है, क्रियावादी है "मैने किया है, करता हूँ, करूँगा अथवा किया है, करवाया है तथा करते हुए को अनुमति/समर्थन दिया है ।" यही 'कर्म परिज्ञा' है । यही बन्धन है, क्रियावाद है ।×

कर्म कृतक हैं, स्वभाव से नही

कर्म करने से ही होता है बिना किए नहीं । आगम मे इस सम्बन्ध मे कुछ प्रश्न-उत्तर मिलते है । इन्द्रभूति जी/गौतम स्वामी के प्रश्न हैं, उत्तर श्रमण भगवान महावीर के हैं—

---

* "कुव्व च कारय चेव, सव्व कुव्व न विज्जइ ।
एव अकारओ अप्पा एव ते उ पगब्भिया ।" – सूत्र १/१/१/१३

** वही – १/१/१/१४ गा आचार्य अमोलक ऋषि

*** "जे ते उ वाइणो एव लोए तेसि कओं सिया ?
तमाओ ते तम जति, मदा आरभ निस्सिया /" – सूत्र १/१/२/२५

× आचारग सूत्र – १/१/१/५–६ सूत्र

"हे भगवन्! वस्त्र मे पुद्‌गलों का उपचय होता है वह प्रयोग (पुरुष के प्रयत्न) से होता है अथवा स्वाभाविक ।"

"हे गौतम! प्रयोग से भी होता है और स्वाभाविक रूप से भी होता है ।"

"हे भगवन्! जिस प्रकार प्रयोग से और स्वाभाविक रूप से वस्त्र के पुद्‌गलो का उपचय होता है तो क्या उसी प्रकार जीवो के भी प्रयोग से और स्वाभाविक रूप से कर्म पुद्‌गलों का उपचय होता है ?"

"हे गौतम! जीवो के कर्म पुद्‌गलो का जो उपचय होता है वह प्रयोग से/पुरुष प्रयत्न से होता है किन्तु स्वाभाविक रूप से नहीं होता ।"

"हे भगवन्! इसका क्या कारण है ?"

"हे गौतम! जीवो के तीन प्रकार के प्रयोग कहे हैं – ।"

मनप्रयोग, वचनप्रयोग, कायप्रयोग, इन तीन प्रकार के प्रयोगों से कर्मो का उपचय होता है, इसलिए जीवो के कर्मो का उपचय प्रयोग से होता है स्वाभाविक रूप से नहीं ।

इस प्रकार सभी पचेन्द्रिय जीवो के तीन प्रकार का प्रयोग होता है । पृथ्वीकायिकादि पाच स्थावर जीवों के एक काय–प्रयोग से होता है । तीन विकलेन्द्रि जीवों के वचन–प्रयोग और कायप्रयोग, इन दो प्रयोगों से होता है । इस प्रकार सर्व जीवो के प्रयोग द्वारा कर्मो का उपचय होता है । किन्तु स्वाभाविक रूप से नहीं होता । इस प्रकार वैमानिक पर्यन्त सभी जीवो के विषय मे कहना चाहिए ।*

चौथी मान्यता है · **"आत्मा सदा असग ने"** अर्थात् आत्मा सदा असग है अत कर्म का कर्त्ता नहीं है, वह अवन्ध है ।

बन्धुओ! यह दृष्टिकोण भी ठीक से घटित नहीं होता । यह एकान्तिक है । गुरुदेव ने इसका समाधान इस प्रकार किया है –

"केवल होत असंग जो, भासत तने न केम ?
असंग छे परमार्थ थी, पण निज भाने तेम ॥७६॥"

---

* भग ६/३/५–७ प्र उ

"आत्मा जो सर्वथा/केवल असङ्ग होता अर्थात् कभी कर्म का कर्त्तापन उसमे न होता तो तुम्हें स्वय आत्मा पहले ही क्यो न भास गया ? परमार्थ दृष्टि से/तत्वत आत्मा असग है, किन्तु यह तो जब स्व-स्वरूप का भान हो तब होता है।"

इस पद मे -"आत्मा के असग होने की अवस्था/कब असग होता है, यदि असग ही है तो तुम्हें उसका आभास क्यो नहीं हुआ ?" इन दो प्रश्नो का उत्तर दिया है और इन उत्तरो मे "आत्मा का कर्तृत्व" सिद्ध होता है । आओ, इस पर थोडा विस्तार से विचार-चर्चा कर ले - ।

'सग/सङ्ग' का अर्थ है आसक्ति, विषयो के प्रति अनुराग, आदि तथा असग के पर्याय है निसग, अनासक्त, अनपेक्ष, उदासीन, निर्लिप्त, वियुक्त, अनुराग शून्य ।

शिष्य ने आत्मा को 'असग' कहा था - **'आत्मा सदा असंग ने'** इसलिए वह कर्म-कर्त्ता नही हो सकता । क्योकि कर्म के ग्रहण अथवा बध के लिए रागादि परिणाम/मोह-आसक्ति आदि भावो का होना अनिवार्य है, किन्तु आत्मा तो सदा, सर्वथा निर्लिप्त है, निस्सग है, अत इन भावो का अभाव है फलत कर्म का बन्ध नहीं करता । तो प्रश्न उठता है सहज ही कि, यह भव-भ्रमण/जन्म-मरण, सुख-दुख की अनुभूति आदि मे निमित्त कौन है ? अविद्या/माया/कर्म है । इनको किसने ग्रहण किया है ? प्रकृति ने, - **'करे प्रकृति बन्ध'** । प्रकृति से ही बन्ध होता है ।"

बन्धुओ। यह भी 'आत्मा' और उसके कर्तृत्व" के बारे मे एक विचारधारा है । इसका नाम 'साख्य दर्शन' है । यह जगत मे दोनो तत्वो को अनादि मानता है - "पुरुष और प्रकृति" । तथा इन दोनो का सम्बन्ध भी अनादि ही स्वीकार करता है । किन्तु विचारणीय यह है कि 'प्रकृति जड है ।' यह त्रिगुणात्मक है - सत्व, रजस, तमस । ससार और मोक्ष भी आत्मा को नही प्रकृति को है । आत्मा कूटस्थ नित्य है, अपरिणामी है । सुख, दुख, ज्ञान भी प्रकृति के धर्म हैं आत्मा के नही । यह दर्शन प्रकृति और पुरुष के सयोग को बन्ध कहता है । और यह तब है जब 'विपर्यय' होता है ।

'विपर्यय' मिथ्याज्ञान/अज्ञान को कहा है ।** प्रकृति निष्पन्न लिग-शरीर (सूक्ष्म) अनादि है और वह अनादि काल से ही पुरुष के साथ सम्वद्ध है । इस विपर्यय से वन्ध तीन प्रकार का होता है – प्रकृति को आत्मा मानकर उसकी उपासना करना प्राकृतिक वन्ध है, भूत, इन्द्रिय, अहकार, वुद्धि इन विकारों को आत्मा समझकर उपासना करना वैकारिक वन्ध है, और इष्ट आपूर्ति मे सलग्न होना दाक्षणिक वन्ध है ।*** पुरुष के वन्ध और मोक्ष है, किन्तु साख्य ने प्रकृति को वन्ध और मोक्ष कहा है, पुरुष को नहीं । मुक्तात्मा मे 'विशुद्ध चैतन्य' ही शेष रहता है प्रकृति का कोई अश नहीं । क्योकि प्रकृति के वियोग हो जाने पर सुखादि प्रकृति के कोई धर्म नहीं रहते । अर्थात् पुरुष को कैवल्य की प्राप्ति होती है । तव वह मात्र शुद्धचैतन्य रूप होता है ।

साख्य दर्शन ने एक लगडे और एक अन्धे व्यक्ति के लोक प्रसिद्ध उदाहरण से सिद्ध किया है कि ससार-चक्र का प्रवर्तन जड-चेतन; इन दोनो के सयोग से होता है । एकाकी पुरुष अथवा प्रकृति मे ससार के निर्माण की शक्ति नहीं है, किन्तु जिस समय ये दोनों मिलते हैं, उस समय ही ससार की प्रवृत्ति होती है । जव तक पुरुष जड प्रकृति को अपनी शक्ति प्रदान नहीं करता, तव तक उस मे यह सामर्थ्य नहीं है कि शरीर, इन्द्रिय, आदि रूप मे परिणत हो सके । उसी प्रकार यदि प्रकृति की जड-शक्ति पुरुष को प्राप्त न हो तो वह भी अकेले शरीरादि का निर्माण करने मे समर्थ कहॉ है । इन दोनों का सम्वन्ध अनादि काल से है, अत. ससारचक्र भी अनादिकाल से ही प्रवृत्त हुआ है ।×

गुरुदेव, शिष्य की जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहते हैं कि, **"केवल होत असग जो, भासत तने न केम ?"** अर्थात् आत्मा केवल/मात्र/सर्वथा असग/निसग, निर्लेप होता, यानि कर्म का कर्त्तापन नहीं होता तो मुझे (शिष्य-प्रश्न कर्त्ता) अव तक उसका आभास/साक्षात्कार या शुद्ध स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव क्यो नहीं हुआ ? होना चाहिए था, नहीं हुआ, इसका

** 'ज्ञानस्य विपर्ययोऽज्ञानम्' – माठर वृत्ति ४४/
*** साख्यतत्व कौमुदी का ४४
× साख्यकारिका २१ (गणधरवाद से उद्धृत पृ. १११)

अर्थ है कि आत्मा सर्वथा असग/निस्सग नहीं है, कथचित् असग है, कथचित सग रूप है । अनादिकाल से सम्बद्ध, कर्म प्रकृति–राग–द्वेष–मोह, अज्ञान से युक्त आत्म 'सग' युक्त है किन्तु निश्चय नय/परमार्थ से/तत्वदृष्टि से असग है, निर्लेप है, अन्यथा कभी भी किसी अवस्था मे वह मुक्त हो ही नहीं सकता । जैसे कि कहा गया है –**"अप्पा सो परमप्पा"** आत्मा ही परमात्मा है ।

"सिद्धा जैसो जीव है, जीव सोई सिद्ध होय,
कर्म मैल को आन्तरो, बूझे विरलो कोय ॥"

आत्मा/चेतन का शुद्ध स्वरूप ही परमात्मा है मात्र असग और सग का अन्तर है । इसे ही अविद्या/माया/प्रकृति/कर्म कहा जाता है । ये सब अशुद्ध हैं । जड मे, अनात्म मे आत्म बुद्धि के कारण । अनात्म मे आत्मबुद्धि को करने वाला, रखनेवाला तत्व कौन–सा है ? वही चेतन और उसका जड/प्रकृति के गुणो के साथ व्यामोहित हो जाना । यही ससार, भव भ्रमण की प्रक्रिया है । फिर आत्मा सर्वथा निस्सग कैसे हुआ ? भले ही तत्त्वत निःसग है किन्तु पुरुष का प्रकृति के प्रति आकर्षण अथवा अहकार, बुद्धि आदि को 'महत्' मानकर पुरुष पर प्रभाव डालना और फिर 'पुरुष का भ्रमित होना' आदि ये सब बाते सिद्ध करती है कि अन्ततोगत्वा आत्मा सर्वथा निस्सग ही नहीं है, कहीं न कहीं कुछ ऐसा है जिससे वह प्रकृति के प्रभाव मे आ जाता है और पुनः उस प्रभाव से मुक्त हो जाता है 'शुद्ध चैतन्य' अवस्था मे स्थित हो जाता है । 'सर्वथा निस्सग' हो तो वह जड/प्रकृति के धर्मो को ग्रहण नहीं कर सकता

इसलिए कहा है – **"असंग छे परमार्थ थी"** वह परमार्थ दृष्टि से, स्व–स्वरूप दृष्टि से निर्लेप, अनासक्त, विभाव से रहित है । किन्तु उसका 'भान' ज्ञान या अनुभव तभी होता है जब 'स्वरूप ज्ञान' हो जाय । अपूर्ण अवस्था 'पूर्णावस्था' का आभास कैसे कर सकती है, वह अनुमान से

ही जानी जाती है । आचार्य सिद्धसेन ने भगवान पार्श्व की स्तुति करते हुए कहा है – 'हे नाथ। मनुष्य आपके स्वरूप का अनुभव मोह के क्षय होने पर ही कर सकता है, पूव नही ।'* – **"मोहक्षयादनुभवन्नपि नाथ। मर्त्यो ।"**

श्रमण भगवान ने गणधर गौतम स्वामीजी के एक प्रश्न के उत्तर मे "निस्सगता" और उसके फल की बात कही है—

प्रश्न – 'भन्ते। अप्रतिबद्धता से जीव को क्या प्राप्त होता है ?'

उत्तर – 'अप्रतिबद्धता से नि.सगत्व की प्राप्ति होती है, नि सगत्व से जीव एक, अकेला तथा एकाग्रचित्त होता है, दिन–रात अर्थात् प्रतिसमय अनासक्त रहता हुआ सर्व वस्तुओं मे अप्रतिबद्ध/बन्धन से मुक्त/अबन्ध रहता है ।'

इस प्रश्न–उत्तर मे आत्मा का परमार्थ दृष्टि से 'असग' रहना सिद्ध होता है । क्योकि यदि पूर्व मे किसी प्रकार का प्रतिबद्ध न होता तो जिज्ञासा ही उत्पन्न न होती! आत्मा प्रतिबद्ध देखा जाता है, अनुभव किया जाता है तभी तो प्रश्न उत्पन्न हुआ कि इसके न रहने पर वह अवस्था कैसी, किस प्रकार की होती है । तुलना कीजिए प्रस्तुत पद से –

"असग छे परमार्थ थी, पण निज भाने तेम ।"

निष्कर्षः बन्धुओ। आत्मा को असग, विभु, निर्गुण आदि अथवा नित्य/कूटस्थनित्य मानने का दृष्टिकोण मैने आपके सामने रखा है । किन्तु ऐसी मान्यता वाले व्यक्ति भी जन्म–मरण, सुख–दुख, सयोग–वियोग, अज्ञान/मोहादि को स्वीकार करते है तथा आत्मा को किसी न किसी रूप मे सम्वद्ध मानते हैं, अन्यथा अकेला जड/प्रकृति तो कुछ भी इन्हे करने मे, और तो क्या शरीर–इन्द्रिय आदि के निर्माण मे भी सक्षम नहीं है । अतएव आत्मा की सग–असग दोनो अवस्थाएँ ही माननी चाहिए और इसके पीछे 'चेतन' की प्रेरणा भी । इस

* कल्याणमन्दिर स्तोत्र, ४ श्लो

प्रकार आत्मा का कर्तृत्व सिद्ध होता है, नहीं तो मात्र कूटस्थ नित्य, असग मान लेने पर न कर्म होगा, न उससे मुक्त होगा । सदा एक रूप–स्वरूप वाला ही रहेगा । अविद्या–माया–क्लेश–दुख–ज्ञान–बुद्धि, अन्त करण, अहकार का अस्तित्व मात्र प्रकृति/जड/अचेतन से कैसे सम्पन्न होगा ? यह प्रश्न तो जिज्ञासा रूप मे उपस्थित ही रहेगा ।

पाचवीं मान्यता – अब इस प्रश्न का समाधान क्या ? इसके लिए 'ईश्वर–प्रेरणा' की स्फुरणा जागी, कर्म भी होगा और आत्मा स्वेच्छा कर्म न करेगा तो अकर्तृत्व 'अबन्ध' भी बना रहेगा कि – **"अथवा ईश्वर प्रेरणा, तेथी जीव अबन्ध ।"** अर्थात् जीव को कर्म करने की प्रेरणा ईश्वर करता है अत ईश्वरेच्छा रूप होने से जीव 'कर्म से' अबन्ध है,"

गुरुदेव ने समाधान दिया है –

"कर्त्ता ईश्वर कोई नहीं, ईश्वर शुद्ध स्वभाव ।
अथवा प्रेरक ते गण्ये, ईश्वर दोष प्रभाव ॥७७॥"

अर्थात्–"जगत का अथवा जीवो के कर्म का कर्त्ता/करने वाला कोई ईश्वर नही है । जिसका शुद्ध आत्म–स्वभाव प्रकट हुआ है, वह ईश्वर है । और उसे प्रेरक अर्थात् कर्म करने मे भी ईश्वर की प्रेरणा नहीं कही जा सकती ।"

इस पद मे तीन बातो का निरूपण हुआ है –

- ईश्वर जगत और जीव के कर्मो का कर्त्ता नहीं है ।
- ईश्वर आत्मा के शुद्ध स्वरूप का रूप है ।
- ईश्वर को प्रेरक मानेगे तो वह दोष–प्रभाव होगा अर्थात् शुद्ध आत्म–स्वभाव रूप नहीं रहेगा ।

सर्व प्रथम अपन 'ईश्वर' शब्द की परिभाषा पर ध्यान दे ताकि ईश्वर के स्वरूप की शाब्दिक जानकारी तो हो! अनुभव तो साधना पर अवलम्बित है । प्रथमावस्था मे जानकारी, आगम या परम्परा पर विश्वास करके ही चलना

होता है, तत्पश्चात् श्रुत या पठित के प्रति मानसिक उपापोह अथवा शका/जिज्ञासा होने पर सिद्धान्त के आधार पर तर्क, युक्ति आदि से निश्चय करना होता है ।

हॉ तो 'ईश्वर' का अर्थ है 'शक्ति सम्पन्न', योग्य, समर्थ, परमात्मा ।

- "क्लेश, कर्म, विपाक/कर्म फल तथा आशय से पृथक् है, रहित है ऐसा पुरुष विशेष ईश्वर है ।"**
- "सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव नो सर्व प्रकारे जाणनार राग, द्वेषादि सर्व विभाव जेणे क्षीण कर्या छे ते ईश्वर ।"***

- "वेदान्त दर्शन के अग प्रायः ईश्वर को 'कर्त्ता' के रूप मे स्वीकार करते हैं तथा माया/अविद्या भी ईश्वर कृत ही है। कहीं-कहीं ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि 'जीवात्मा' की उत्पत्ति व्रह्म से हुई है और माया भी । "व्रह्म" शुद्ध है, जीव अश एव मायायुक्त होने से अशुद्ध है क्योंकि वह माया से मोहित है । पारव्रह्म परमात्मा शुद्धस्वरूपवान है, व्रह्म-माया मलिन है । लोक ईश्वर कृत है, जीव-अजीव, सुख-दुख समायुत यह लोक स्वभू ने वनाया है । पौराणिक मान्यता है कि जगत शून्य था किसी समय व्रह्मा ने अण्डा वनाया और उसके दो भाग हुए एक भाग से ऊर्ध्व लोक, दूसरे से अधोलोक हुआ । जगत पितामह की यह अण्ड सृष्टि है । पृथ्वी पर भार वढ जाने के कारण यमराज की सृष्टि की, यमराज ने माया वनाई माया से जीव मरते हैं । अतएव लोक अनित्य है ।"*

'ईश्वर' शव्द के कुछ अर्थ लौकिक के लिए हैं, शेष अलौकिक-पारमार्थिक हैं । ईश्वर को शक्ति सम्पन्न, समर्थ आदि मानकर ही सृष्टि/लोक तथा जीव का प्रेरक मान लिया। तथा साथ ही व्रह्मवैवर्त मतवालो ने उसका दूसरा

** योगशास्त्र महर्षि पतञ्जलि कृत, समाधिपादसूत्र २४
*** श्रीमद् रायचन्द्र, हाथनोंध ३/१७
* सूत्रकृताग १/१/३/५-६-७-८-९

पक्ष–माया/अशुद्ध रूप भी कारण शक्ति का उत्पादक भी तो माना है अत उसके शुद्धस्वरूप को विकृत कर दिया ।

जैन दर्शन/धर्म ने इसे स्वीकार नहीं किया है । उसने शुद्ध स्वरूप स्वभाव वाले आत्मा को ही परमात्मा या ईश्वर माना है । –

"परमैश्वर्य युक्तत्वाद्, आत्मैव मतः ईश्वरः ।
स च कर्ते ति निर्दोष, कर्तृवादो व्यवस्थितः ॥"

अर्थात् "आत्मा ही परम ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण ईश्वर (परमात्मा) है और वही कर्त्ता है ।"

आगम मे भी ईश्वर के कर्तृत्व का निषेध करते हुए कुछ मान्यताएँ दी है ।

जैनदर्शन/धर्म/लोक/सृष्टि को अनादि और अनत मानता है । न इसे किसी ने बनाया है न कोई शक्ति इसे नष्ट करती है । अपनी–अपनी कल्पना से 'लोक' को किया हुआ, बनाया हुआ कहते हैं किन्तु वे तत्व को नहीं जानते । लोक अविनाशी है तो उसकी न उत्पत्ति है न कभी विनाश है ।

"सयेहिं परियाएहिं, लोयं बूया कड़े त्ति य ।
तत्त ते ण विजाणंति, ण विणासी कयाइ वि ॥"

'कारण के बिना कार्य नहीं होता' न्याय शास्त्र का अकाटच सिद्धान्त है, तो किसी को सृष्टि/लोक के निर्माण और सहार का कारण ही उत्पन्न नहीं हुआ तो कार्य–निर्माण/सहार का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। जीव आत्माएँ अपने स्वभाव, गुण–धर्म के अनुसार उन–उन अवस्थाओ मे परिणत होते हैं तथा जड वस्तुएँ पुद्गल–स्कन्ध–अणु–परमाणु आदि अपनी गति, गुण–स्वभावानुसार परिणत होते रहते है । प्रकृति–जगत के कार्य मे ईश्वर/परमात्मा/सिद्ध भगवान का कोई हस्तक्षेप नही है । हॉ जीवात्मा अपने जीवन के लिए अपने ज्ञान/इच्छा के बल उसका जड–पुद्गल/प्रकृति का प्रयोग से उपयोग करता है अर्थात् प्रायोगिक प्रक्रिया द्वारा प्रयोग करता है ।

जैन दर्शन के अतिरिक्त "जगत का कर्त्ता तथा कर्म प्रेरक ईश्वर नहीं है," मानने वाले विशेष रूप से दो दर्शन हैं । ये आत्मा को नित्य, शुद्ध तथा ईश्वर/परमात्मा को शुद्ध स्वरूप, अजन्मा, अनत, निर्गुण, विभु, असग मानते हैं । जगत और उसकी विचित्रता, सुख-दुख, मोह, अज्ञान, जन्म-मरण का कारण त्रिगुणा प्रकृति तथा द्वयणुकादि हैं । किन्तु ईश्वर कर्त्ता-भोक्ता नहीं है । मुक्तात्मा शुद्ध चैतन्यमय है ।

अलवत्ता ईश्वर के नाम-ध्यान आदि साधना से आत्मा अपना उद्धार कर सकता है, इसके विपरीत अनिष्ट कर्म से अपना पतन कर सकता है । क्योकि आत्मा ही आत्मा का वन्धु /मित्र है और आत्मा ही आत्मा का/स्वय का शत्रु है । ** ऐसा श्री कृष्ण का भी गीता मे उपदेश है । उन्होंने आत्मा पर ही उसके उत्थान-पतन, उद्धार-सहार आदि का सारा दायित्व डाल दिया है, फिर **'अथवा ईश्वर प्रेरणा'** का अर्थ क्या ? इसी प्रकार और भी कहा है कि -"ईश्वर मे न कर्तृत्व है/कर्तापन है, न कर्म है, और न वह लोक का सृजन करता है, न कर्म का फल प्रदान करता है यह सव स्वभाव से ही प्रवर्त्तन है" अर्थात् जीव जैसा करता है अपना फल भोग लेता हे । और ससार भी स्व-स्थिति मे स्थित हैं ।

श्रमण भगवान ने भी यही कहा है - "आत्मा अपने दुखद-सुखद कर्म का स्वय कर्त्ता है, भोक्ता एव नष्ट करने वाला है । और आत्मा ही अपना मित्र-अमित्र/शत्रु है, जो सुमार्ग-कुमार्ग मे ले जाने वाला है । अन्य कोई नहीं ।***
"पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं, किं वहिया मित्तमिच्छसि ?"
- पुरुषो। तुम ही तुम्हारे मित्र हो, वाहर मे मित्र की इच्छा क्यों करते हो ? "× इन वचनो से आत्मा/जीव को स्वावलम्व ही मानना चाहिए और जो स्वावलम्वी होता है वह अन्य आलम्वन कहाँ लेता है ? अतएव ईश्वर कर्त्ता नहीं है

** उद्धरेदात्मनाः ...भग गीता ६/५
*** उत्तरा.२०/३७
× आचाराग १/३/३ सूत्र

–**"कर्त्ता ईश्वर कोई नही,"** क्यो ? इसलिए कि **"ईश्वर शुद्ध स्वभाव"** वाला है । उसमे सत्–चिद् और आनद गुण विद्यमान है अत करने अथवा प्रेरणा देने का कारण नही है । ससारस्थ आत्मा मे सत्–चिद् गुण है किन्तु आन्द सुप्त है, उसके लिए सब प्रक्रियाएँ करता है । साथ ही ईश्वर शरीर–इन्द्रियादि स्थूल–सूक्ष्म शरीर करण से मुक्त है । वह निराकार–निरजन है, अतएव जीव/आत्मा के कर्म और उसके फल मे ईश्वर का कोई हस्तक्षेप नही है । कहा भी है न !

"स्वय कर्म करोत्यात्मा, स्वय तत्फलमश्नुते ।
स्वय भ्रमति ससारे, स्वय तस्माद् विमुच्यते ॥"

अर्थात् आत्मा स्वय कर्म करता है, स्वय उसका फल प्राप्त करता है यानि भोगता है । तथा स्वय ही ससार भ्रमण करता है, स्वय ही बन्धन से मुक्त हो जाता है ।

बहुत सीधी बात कही है सनातन धर्म मे –"अथवा ईश्वर प्रेरणा, तेथी जीव अबध ।" बस, और यदि कुछ आपको समझ मे न आए, मस्तिष्क पर जोर न डालना हो तो भगवान पर छोड दो । गुरु नानक कहते हैं – **"करे करावे आपो आप, माणस दे नहि कुछ हाथ ।"** करना–कराना किसके हाथ मे है ? भगवान के हाथ मे है, **"माणस दे ना कुछ हाथ"**—मनुष्य के हाथ मे कुछ नहीं है । हॉ, क्योकि जीव अल्पज्ञ है, ईश्वर सर्वज्ञ है, है न, तो जीव कुछ नहीं करता, आत्मा कुछ नहीं करता, कौन ईश्वर की प्रेरणा से करता है जीव। और इस्लामधर्म सिद्धान्त भी यही है –**"खुदा बाझो पत्ता वी नही हिलदा,"** बिना खुदा के पत्ता भी नही हिलता ।

पजाब मे एक सन्त थे स्वामी हीरालाल जी महाराज, बहुत पुराने भद्र परिणामी सन्त थे । एक मुसलमान 'खुदा' के बारे मे चर्चा करने आ गया, 'तुम खुदा को नही मानते इसलिए तुम काफिर हो ।' हीरालाल जी महाराज कहने लगे अच्छा भाई। हम 'काफिर' ही अच्छे हैं, तुम जो खुदा को मानने वाले हो उनसे हम 'काफिर' अच्छे हैं, तुम मोमिन बने रहो । हमे कोई डर नही ।" कहता है – नहीं, मै तुम से गुफ्तगू

वातचीत करूँगा । वहुत समझाया नहीं माना । कहते हैं 'अच्छा कर ले', 'तुम खुदा को नहीं मानते,' महाराज ने कहा– 'हॉ, हम खुदा को मानते हैं ।' सन्त कहते हैं –'अच्छा, तो तूने मुझे ये जो कहा कि 'मै खुदा को नहीं मानता हूँ, तो यह कहने की खुदा से इजाजत/आज्ञा ली तूने पहले ।'

'इसमे इजाजत की क्या वात है ?' 'विल्कुल ठीक है, खुदा के विना पत्ता नहीं हिलता ।' सत कहते हैं 'अच्छा, मिया जी! पैर उठाओ जरा,' वह खड़ा हो गया और खडे–खडे पैर उठाया, 'मिया जी दूसरा उठाओ!' कहता है–'मैने गिरना है,' खुदा नहीं, खुदा तेरा क्या कहता है ? मेरे कहने से तूने एक लात उठाई तो दूसरी मेरे कहने से उठा ।' नहीं उठाता, क्योकि गिरने का भय है । क्या है ये ? ये कुतर्क हैं । इसमे सार नहीं है कुछ । कह देना एक वात है, करना दूसरी वात है । यह तो एक नजरिया है । क्या ? 'ईश्वर की प्रेरणा से कर्म होता है,' ईश्वर की प्रेरणा से जव कर्म होता है–**"तेथी जीव अबन्ध"** इसलिए जीव वन्धन मे नहीं है । क्योंकि वह ईश्वर के साथ क्या है ? वधा हुआ है । ईश्वर ने प्रेरणा दी तो कर्म कर लिया अन्यथा नहीं । मतलव क्या हुआ चोर को कहा ईश्वर ने ' तू चोरी कर' वसीलाल जी! नहीं, कहता! जव जीव ईश्वर की प्रेरणा से करता है सव कुछ, तो ईश्वर ने कहा चोर को कि चोरी कर और साहूकार को जाकर कह दिया कि, जागते रहना, सावधान रहना, क्योकि उसको भी तो कहेगा न, हा, बिना कहे कोई काम ही नहीं होता, विना ईश्वर के ।

ये आपके सामने छह नजरिये श्रीमद्रायचन्द्र ने रखे है, जो षट्दर्शन है । जैन धर्म, भगवान महावीर की वाणी अनेकान्त दर्शन क्या कहता है कि "जीव कर्म का कर्त्ता है और कर्म के फल का भोक्ता है ।" जीव अपनी इच्छा से, क्योंकि उसके इच्छा–स्वातन्त्र्य है, कर्म करता है और फल भोगता है । फल को भोगते हुए देखते है ।

किसी सेठ ने अपने नौकर को कह दिया तुम अमुक आदमी को गोली से उडा दो और उसने सेठ की आज्ञा से

गोली से उडा दिया उसको, सजा कौन भुगतेगा ? जिसने मारा और उसके बाद, जब वह नाम लेगा उसका/सेठ का तब ? तब दोनो ही अपराधी होगे और दण्ड प्राप्त करेगे न ? व्यवहार मे जब हम यह सब कुछ देखते हैं, तो ईश्वर प्रेरणा देता है और जीव कर्म करता हुआ भी असग रहता है, असग कहॉं रहता है ? हम तो कर्म का फल अच्छा-बुरा यहॉं भुगत रहें है, इसलिए यह बात ठीक नहीं बैठती कि 'जीव कर्म का कर्त्ता नहीं है ।' जीव कर्म का कर्त्ता है तभी अच्छे-बुरे कर्म का फल भोगता है ।

श्रीमद् ने ईश्वर के बारे मे स्पष्ट उल्लेख किया है कि—

'ईश्वर क्या है ?' वह जगतकर्ता है यह ठीक है ?

१ – "हम-तुम कर्म बन्धन मे रहे हुए जीव हैं । वह जीव का सहज स्वरूप अर्थात् कर्म रहितपना-मात्र एक 'आत्मत्वपन' का जो स्वरूप है वह 'ईश्वरपन' है । ज्ञानादि ऐश्वर्य जिसके हैं, वह ईश्वर कहने के योग्य है, तथा वह ईश्वरता आत्मा का सहज स्वरूप है । जो स्वरूप कर्म के प्रसग से जाना नहीं जाता किन्तु वह प्रसग अन्य स्वरूप से जानता है, जिनके आत्मदृष्टि होती है उनके क्रम से सर्वज्ञतादि ऐश्वर्यपन उसी आत्मा मे ज्ञात होता है और उससे विशेष ऐश्वर्य वाला कोई पदार्थ-समस्त पदार्थो को निरखते हुए भी अनुभव मे नहीं आ सकता । जिससे ईश्वर है वह आत्मा का दूसरा पर्यायिक नाम है, इससे कोई विशेष सत्ता वाला पदार्थ ईश्वर है, ऐसा नहीं, ऐसा निश्चय मे मेरा अभिप्राय है ।

२ – वह जगत कर्त्ता नहीं है अर्थात् आकाशादि पदार्थ नित्य होने योग्य है, वे किसी भी वस्तु से बनने योग्य नहीं है, कदापि इस प्रकार माने कि वे ईश्वर मे बने हैं तो वह बात योग्य मालूम नही देती । कैसे ? कि, ईश्वर को जो चेतन रूप माने, तो उससे परमाणु, आकाशादि किस प्रकार उत्पन्न हो सकते हैं ? क्योकि चेतन से जड की उत्पत्ति होना ही सभव नही है । यदि ईश्वर को जड स्वीकार करने मे आए तो सहज मे वह अनैश्वर्य ठहरता है । इसलिए उससे

जीव रूप चेतन पदार्थ की उत्पत्ति भी नही हो सकती। जड-चेतन उभय रूप ईश्वर को माना जाय, तो फिर जड-चेतन उभय रूप जगत है, 'उसका ईश्वर' ऐसा दूसरा नाम कहकर सतोष कर ले भले ही, किन्तु ऐसा करते हुए भी 'जगत को जगत ही कहना' यह विशेष योग्य है। कदापि परमाणु, आकाशादि नित्य माने तथा ईश्वर को कर्मादि का फल देने वाला माना जाय, ये बात सिद्ध ज्ञात नहीं होती। इस विचार मे 'षड्दर्शन समुच्चय' मे सर्व प्रमाण दिए गए हैं।*

शिक्षा पाठ १०६ मे विविध प्रश्न, भाग ५ मे एक प्रश्न-प्रतिप्रश्न मे 'ईश्वरकर्त्ता' के बारे तर्क पूर्ण उत्तर है श्रीमद् का -

प्रश्न - इतना तो मुझे लगता है कि महावीरादिक जिनेश्वरो का कथन न्याय के काटे पर हैं; परन्तु जगतकर्त्ता का वे निषेध करते हैं, और जगत अनादि अनत हैं ऐसा कहते हैं; इस विषय मे कुछ-कुछ शका होती है कि यह असख्यात द्वीप-समुद्र युक्त जगत बिना बनाए कहाँ से हुआ ?

उत्तर - आपको जब तक आत्मा की अनत शक्ति की लेश भी दिव्यप्रसादी नहीं मिलेगी तब तक ऐसा लगता है, परन्तु तत्वज्ञान से ऐसा नहीं लगेगा। 'सन्मति तर्क' ग्रन्थ का आप परिशीलन करेंगे तो यह शका दूर हो जायेगी।

प्रश्न - परन्तु समर्थ विद्वान् अपनी मृषा बात को भी दृष्टातादिक से, सैद्धान्तिक कर देते है, इसलिए वह खडित नहीं हो सकती, परन्तु वह सत्य कैसे कही जाये ?

उत्तर - परन्तु उन्हें कुछ मृषा कहने का प्रयोजन न था, और थोडी देर के लिए यो माने कि हमे ऐसी शका हुई कि यह कथन मृषा होगा तो जगत कर्त्ता ने ऐसे पुरुष को जन्म ही क्यो दिया ? नाम डुबाऊ पुत्र को जन्म देने का क्या प्रयोजन था ? और फिर वे सत्पुरुष सर्वज्ञ थे, जगतकर्त्ता सिद्ध होता तो ऐसा कहने से उन्हें कुछ हानि न थी।

क्रमशः

---

* 'श्रीमद् रायचन्द्र' गुजराती सस्करण १९९२, आक ३४९.

'छे कर्त्ता निजकर्म : समाधान (तीन)

अब गुरुदेव शिष्य को आत्मा के 'शुद्ध स्वरूप/अक्रिय/अकर्तृत्व' का निरूपण करते हैं कि वह कब होता है—,

"चेतन जो निजभान मा, कर्त्ता आप स्वभाव ।
वर्ते नहीं निजभाव मा, कर्त्ता कर्म प्रभाव ॥७८॥"

"अर्थात् चेतन/आत्मा जब अपने चैतन्यादि शुद्ध स्वभाव मे वर्त रहा होता है तब वह अपने उसी स्वभाव का कर्त्ता है, अर्थात् उसी स्वरूप मे लीन रहता है, और जब वह अपने स्वभाव मे नहीं बर्तता है/अपने स्वभाव का भान नहीं रहता तब वह कर्म-भाव का (कर्म के प्रभाव से) कर्त्ता है ।"

इस पद मे दो बातो का उल्लेख हुआ है, विचारणीय है—,

एक – चेतना/जीवात्मा निजभान मे रहता हुआ स्वभाव का/अपना ही कर्त्ता होता है, परभाव का नहीं ।

दूसरी – जब निजभाव मे नहीं वर्तता तो कर्म के प्रभाव से 'कर्त्ता' होता है ।

गुरुदेव ने शिष्य की जिज्ञासा का –**"कर्त्ता जीव न कर्म नो"** समाधान करते हुए तथा 'जीव और कर्म बन्ध' अर्थात् आत्मा का कर्तृत्व-अकर्तृत्व गुण/क्रिया विषय का उपसहार करते हुए कहा है कि जीव/चेतन अथवा आत्मा 'निजभाव' आत्मज्ञान मे अपने स्वरूप मे लीन होता है तो कर्म का कर्त्ता नहीं होता, वह केवल अपने स्वभाव का ही कर्त्ता होता है । जब निजभान/ज्ञानावस्था मे नहीं होता तो कर्म का कर्त्ता होता है ।

जैन दर्शन वस्तु को द्रव्य/मूल रूप एव पर्याय दृष्टि/अवस्था विशेष से, इन दोनो दृष्टियों से देखता है । एक से नहीं, एकान्त से नहीं, अनेकान्त दृष्टि से ग्रहण करता है, वह निश्चय और व्यवहार से वस्तु/पदार्थ का निर्णय करता है ।

यहॉ निश्चय और व्यवहार दोनों से आत्मा के 'कर्तुत्व' गुण का उल्लेख किया हैं । पहली पक्ति मे निश्चय/तत्व दृष्टि से कथन है कि, चेतन अपने भान/ज्ञान मे रहता है तो 'स्वभाव' मे रहता है, विभाव/पर-भाव मे नहीं; अतः परिणामी होने स अपने ही भावों का कर्त्ता है । दूसरी पक्ति मे व्यवहार दृष्टि से कहा है किं, जव स्वभाव मे न वर्तकर पर-भाव मे वर्तन करता है तो 'कर्म' का कर्त्ता होता है । अन्यथा नहीं । तात्पर्य यह है कि कर्म और जीव का सम्वन्ध अनादि से है, जब वह कर्म-प्रभाव से मोहित/अज्ञान होता है तो पर-भाव/अजीव-जड के गुण-धर्म-स्वभाव मे 'आत्मवुद्धि' रखता है । यानि उसे अपना मान लेता है तव कर्मो का कर्त्ता होता है, वनता है — **'अण्णाण मओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ।"** आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है —"इस प्रकार मन्द-वुद्धि/अज्ञानी अज्ञान भाव से पर-द्रव्यों को अपने रूप करता है और अपने को पर-रूप करता है ।" × इस कारण से निश्चय के ज्ञाताओं ने वह कर्त्ता कहा है । इस प्रकार वस्तुत· जो जानता है, वह सव कर्त्तृत्व को छोड देता है । **"एवं खलु जो जाणदि सो मुच्चदि सव्व कत्तितं ।"**

यहॉ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा/जीव/चेतन परमार्थ/निश्चय दृष्टि से अक्रिय है अर्थात् कर्म का कर्त्ता एव कारण रूप नहीं है, क्योकि वह शुद्धात्म स्वरूप वाला है । कर्म युक्त ससारी/वद्ध जीव ही अज्ञान/मोह के कारण "कर्त्ता" है किन्तु **'चेतन जो निज भान मां, कर्त्ता आप स्वभाव,'** — "निजज्ञान ज्ञान स्वरूप मे स्थित आत्मा अपने भाव का ही 'कर्त्ता' है," ऐसा जो कहा गया है, वह कैसे ? वह भी सक्रिय हुआ और कर्म युक्त भी सक्रिय ही हुआ तो उन दोनो अवस्थाओ मे क्या अन्तर रहा ?

उत्तर : अन्तर है । विचार-मनन करने से वस्तु का स्वरूप स्पष्ट परिलक्षित होता है ।

× समयसार ३/२८-२९/९६-९७

एक : सबसे पहला अन्तर/फर्क तो यही है कि कर्म प्रभाव से सक्रियता पुन कर्म का बन्ध-क्षय करती रहती है फलत ससार होता है, पुन· अज्ञान, मोह का आवरण !

दूसरा : अपने स्वभाव की सक्रियता से अपने ही भावों का कर्त्ता रहता है, पर-भाव का नहीं फलत कर्म बन्ध, पर-परिणति आदि से रहित मात्र दृष्टा, ज्ञाता रहता है । क्योकि स्वभाव तो आत्म स्वरूप ही है इसलिए विकार का प्रश्न ही नहीं उठता!

'अक्रियता' से यहाँ अभिप्राय कर्म प्रभाव का न होना है, क्योकि अज्ञान-मोहादि से प्रवृत्ति का जन्म होता है, प्रवृत्ति से पुन सस्कार, पुन कर्म, पुन सक्रियता । कर्म के अभाव मे पुन कर्म की सक्रियता का न होना ही अक्रियता है । किन्तु 'निजज्ञान अवस्था से स्वरूप मे स्व-स्वभाव का कर्त्ता होता है' का अर्थ है आत्म-भाव मे लीन रहना । आत्मा नित्य है, किन्तु परिणामी है अत अपने स्वभाव का कर्त्ता है, पर-भाव, कर्म आदि का नहीं । यदि अपने स्वभाव मे भी रमण करनेवाला न माने तो वह कुछ भी नहीं रहेगा, शून्यवत् हो जायेगा । इसलिए सक्रिय कहा है, परमार्थत तो अक्रिय ही है, क्योकि पर-भाव, विभाव को कैसे कर सकता है ? अत स्वभाव का ही कर्त्ता है ।

दूसरी बात, शुद्धात्मा मे योगो की परिस्पदना नहीं है, योग के बिना प्रवृत्ति/सक्रियता नहीं हो सकती ।

आत्मा के सक्रिय और अक्रिय रूप को श्रीमद् ने इस प्रकार परिभाषित किया है —,

"शुद्धात्मा पर-योग नो पर-भाव नो, अने विभाव नो त्या कर्त्ता नथी, माटे अक्रिय कहेवा योग्य छे; पण चैतन्यादि स्वभाव नो पण आत्मा कर्त्ता नथी एम जो कहिए तो ते पछी तेनु कइं पण स्वरूप न रहे । शुद्धात्मा ने योग-क्रिया नहीं होवा थी ते अक्रिय छे, पण स्वाभाविक चैतन्यादि स्वभाव रूप क्रिया होवा थी

ते सक्रिय छे । चैतन्यात्म पणुं आत्मा ने स्वाभाविक होवा थी तेमां आत्मा नुं परिणमवुं ते एकात्म पणे ज छे, अने तेथी परमार्थ नय थी सक्रिय एवुं विशेषण त्यां पण आत्मा ने आपी शकाय नहीं । निज-स्वभाव मां परिणमा रूप सक्रियता थी निज स्वभावनु कर्त्तापणुं शुद्धात्माने छे, ते थी केवल शुद्ध स्वधर्म होवा थी एकात्मपणे परिणमे छे तेथी सक्रिय कहेतां पण दोष नथी । जे विचारे सक्रियता, अक्रियता निरूपण करी छे, ते विचारना परमार्थ ने ग्रही ने सक्रियता, अक्रियता कहेता कशो दोष नथी ।" [1]

बन्धुओं! इस प्रकार आत्मा के उपचार-अनुपचार से, व्यवहार-निश्चय दृष्टि से आत्मा को अक्रिय एव सक्रिय कहा है ।

आत्मा कर्त्ता है :

यह आत्मवादी दर्शनो मे विवाद का विषय है । आत्मा को 'नित्य' मानने पर भी उसके 'कर्तृत्व' पर मतभेद है । किन्तु विना किसी पूर्वाग्रह के सहज/सरलता से इस पर/कर्तृत्व पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट आभास होता है कि "किए विना कुछ होता नहीं है" यानि प्रत्येक कार्य की निष्पत्ति विना क्रिया के कैसे सभव है । वह प्रत्यक्ष हो, परोक्ष हो, सूक्ष्म रूप मे हो चाहे स्थूल रूप मे होती हो, दृश्य हो, अदृश्य हो; है अवश्य । फिर यह भी एक परम सत्य है कि, 'लोक के सर्व पदार्थ अर्थक्रिया सम्पन्न है ।' प्रत्येक क्रिया कारण से समुत्पन्न होती है, कार्यरूप मे परिणत होती है । धरती पर जड़ और चेतन दोनों सक्रिय है व्यवहारतः । यही कारण-कार्य रूप धारण करते रहते है । यही विचित्रता का कारण है । एक ज्ञानी पुरुष ने जड और चेतन के स्वरूप का उल्लेख करते हुए दोनो के कार्यो एव स्वरूप का कथन किया है –

---

[1] नडियाद, सवत् १९८२ आसोवद २

"कर्म पुद्‌गल रूप है, जीव रूप है ज्ञान ।
दो मिलकर बहुरूप है, बिछड्यां पद निर्वाण ॥"

इन दोनो के सयोग के बिना 'बहुरूप' किस प्रकार हो सकते हैं ? उस 'सयोग' का अर्थ ही मूलत सक्रिय होने मे है, कर्तृत्व मे है । इसे ही करना,- किया, करता, करेगा, इन तीन क्रियापदो मे, तीन काल मे इसका रूप रहता है । किन्तु ज्ञान द्वारा ज्यो-ज्यो यह चेतन/आत्मा स्व-स्वरूपावस्था मे आता जाता है, त्यो-त्यो अक्रिय होता है और एक दिन मुक्त हो जाता है - **"बिछड्यां पद निर्वाण"** । आत्मा एकान्त रूप से कर्त्ता नही, अकर्त्ता भी नहीं है । पर-भाव मे रहते कर्त्ता है, स्वभाव मे आने से अकर्त्ता है । इसे व्यवहार और निश्चय दृष्टि से कहा गया है । अकर्त्ता होने के उपायो का निर्देश करते हुए कहा है -

जीव और पुद्‌गल के सयोग को ही 'बन्ध' कहा है तथा 'बन्ध' सहज प्रक्रिया नही है, क्रियामाण है, करने से होता है । अतएव कहा है -

"गर्भित पुद्‌गल-पिण्ड मे, अलख अमूरति देव ।
फिरे सहज भव चक्र मे, यह अनादि की टेव ॥"

इस पद मे निश्चय दृष्टि/तत्वदृष्टि से परमार्थत जीव /आत्मा का स्वरूप-कथन किया है कि वह अलक्ष, अमूर्त्त, देव/दिव्य, विलक्षण, अचित्य है । किन्तु शरीरवद्ध है, पुद्‌गल पिण्ड मे/कर्म-वर्गणा मे आवद्ध होने से ससार मे अनादि काल से परिभ्रमण कर रहा है, यह उसकी टेव/आदत हो गई, अर्थात् विभाव के कारण है । जीव-कर्म का सयोग-बन्ध कैसा है ? आगम मे नीर-क्षीर/दूध-पानी की भॉति कहा है । यहॉ उसे अन्य दृष्टान्तो से भी अभिहित किया है और यह भी वताया है कि दुख का अनुभव क्यो हो रहा है -

"फूल-अतर-घी-दूध में, तिल मे तेल छिपाय ।
यूँ चेतन जड़-कर्म सग, बन्ध्यो ममत दुख पाय ॥"

अब अन्य प्रकार से जीव की 'विभाव दशा'—पुद्गल/अनात्मा/शरीरादि मे आत्मवुद्धि के कारण, अर्थात् पुद्गल/जड के गुण-स्वभाव—धर्मो को **'ते निज माने हंस'** जीवात्मा ने अपना/स्व-स्वभाव मान लिया इसी कारण—भ्रम और विभाव से 'कर्म' का वश वढ गया, कर्म की वृद्धि होती गई, छुटकारा नहीं हुआ —।

"जो जो पुदगल की दशा, ते निज माने हंस ।
याही भरम विभाव ते, बढ़े कर्म को वंस ॥"

जीव का द्रव्य-भाव स्वरूप समझाते हुए उसके सर्वांगीण रूप को प्रस्तुत किया है—

"द्रव्य थकी जीव एक है, क्षेत्र असंख्य प्रमाण ।
काल थकी सर्वदा रहे, भावे दर्शन ज्ञान ॥"

जैन दर्शन वस्तु को 'द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव' से निरूपित करता है इसे पदार्थ का स्वरूप ज्ञात करने, जानने मे सरलता रहती है । तनिक ध्यान देवे इस ओर—

१ - **द्रव्य दृष्टि से,** जीव एक अखण्ड पदार्थ है ।

२ - **क्षेत्र दृष्टि से,** अवगाहन की अपेक्षा असख्यात-प्रदेशी है । अर्थात् 'जीव पदार्थ असख्येय-आकाश प्रदेश का अवगाहन करता है । जीव सकोचन—प्रसारण स्वभाव वाला है, वह सूक्ष्म शरीर मे सूक्ष्म, स्थूल शरीर मे स्थूल रूप से व्याप्त हो जाता है । जघन्य/कम से कम शरीर-व्यापी और उत्कृष्ट लोक व्यापी होता है प्रमाण' दृष्टि से । यहॉ क्षेत्र-आकाश-प्रदेश की अपेक्षा है । क्योंकि प्रत्येक पदार्थ आकाश प्रतिष्ठित होता है विना आकाश के वह किस ओर कहॉ स्थित रहता है, अत· प्रश्न है कि जीव कितने आकाश-प्रदेशों पर स्थित है—अथवा उन्हें अवगाहित करता है, रोकता है, घेरता है ? असख्येय । इस दृष्टि से असख्यात प्रदेशी है । प्रदेश का अर्थ है स्कन्ध का वह अति

सूक्ष्मविभाग जो अविभाज्य/जिसका विभाग न हो सके और स्कन्ध के सलग्न/साथ लगा हो ।

३ – **काल दृष्टि से** – जीव शाश्वत, नित्य, अमर/ध्रुव है। यह पहले था, अब है, आगे भी रहेगा । यह सद्भाव पदार्थ है ।

४ – **भाव दृष्टि से** – भाव का अर्थ आन्तरिक स्वरूप, गुण, धर्म है । जीव उपयोग/ज्ञान-दर्शन गुण वाला है। सुख और शक्ति रूप है । *

एक जैन मनीषी ने द्रव्य-भाव स्वरूप को सक्षेप मे प्रतिपादित किया है –

"जीवो उवओगमओ, अमुत्ति, कत्ता-सदेह परिमाये ।
भोत्ता ससारत्थो, सिद्धे सो विस्ससोड्ढगई ॥"

– "अर्थात् वह उपयोगमय, अमूर्त्त, कर्त्ता, सदेह-परिमाण, भोक्ता, ससारस्थ, सिद्ध और स्वभाव से ऊर्ध्व गतिवाला है ।"

बन्धुओ। यह विषय तो अति शुष्क है, क्योकि गुह्य तत्त्वों के बारे गहन विचारों का कथन है । किन्तु "तत्त्व का समीचीन रूप क्या है," इसे समझना भी अनिवार्य है । अन्यथा व्यक्ति/हम उसके विपरीत जो भी करते/बोलते/सोचते रहेगे वह मिथ्या/विपरीत हो जायेगा। फलत इष्टसिद्धि किस प्रकार हो सकेगी ? अतएव तत्त्व का स्वरूप ज्ञात होना ही चाहिए ।

यहाँ आत्मा के 'कर्तृत्व'/कर्त्तापन को लेकर मतभेद था, किन्तु प्रत्येक प्रवृत्ति-जन्म/देह धारण से लेकर मरण तक जो भी क्रमश चाहे-अनचाहे क्रिया/व्यापार और कर्म होता है, उसके पीछे चेतना का सतत प्रवाह न होगा, प्रेरणा, स्फुरणा नहीं होगी तो उसका 'होना' कैसे मान लिया जाय ? मात्र जड़ से प्रकृति से, माया से ? प्रकृति, माया आदि से अन्त करण,

---

* 'ज्ञान-गुटका,' आत्मा-परमात्म अग ४/५-१०-ला. रणजीतसिह जी

अहकार, बुद्धि आदि उत्पन्न होने की कल्पना तो की है किन्तु पुरुष/चेतन की परिस्पदना/करणवीर्य की स्फुरणा के बिना कैसे सभव होगा ? क्योकि प्रकृति, माया आदि जड है । जड मे इच्छा सवेदना आदि कहाँ है ? ये तो चेतना के कार्य हैं, जड तो, शरीर-इन्द्रिय-प्राणादि सहकारी साधन है, मुख्य तो चेतना ही है । बिना चेतना/आत्मा के कर्म/कार्य सभव नहीं है, ऐसा मानना चाहिए । और यह अनुभव, युक्ति के आधार पर ठीक बैठता है । इस कर्म की प्रक्रिया मे किसी अन्य शक्ति-ईश्वरादि का हस्तक्षेप या आलबन की आवश्यकता प्रतीत ही नही होती । कहा भी है -

"स्वकृतैर्जायते जन्तुः, स्वकृतैरेव वर्धते ।
सुख-दुखे तथा मृत्युं, स्वकृतैरेव बिन्दति ॥"*

श्रीमद् ने भी स्पष्ट रूप से लिखा है -

"तीसरा पद -"आत्मा कर्त्ता है ।" सर्व पदार्थ अर्थक्रिया सम्पन्न है । किसी न किसी परिणाम-क्रिया सहित ही सर्व पदार्थ देखने मे आते है । आत्मा भी क्रिया सम्पन्न है । क्रिया सपन्न है इसलिए कर्त्ता है । श्री जिन ने उस कर्तृत्व का त्रिविध विवेचन किया है -

१ - परमार्थ से, स्वभाव परिणति द्वारा आत्मा निज स्वभाव का कर्त्ता है ।

२ - अनुपचरित (अनुभव मे आने योग्य, विशेष सम्बन्ध सहित) व्यवहार से यह आत्मा 'द्रव्य कर्म' करता है ।

३ - उपचार से, घर-नगर आदि का कर्त्ता है ।

बन्धुओ! इस प्रकार आत्मा को 'कर्त्ता' मानने से ही समस्या का समाधान हो जाता है । कर्म और उसके फल का आत्मा के अतिरिक्त कोई कर्त्ता-भोक्ता नहीं है । जैसे कहावत

---

* श्लोक सग्रह भा २/४० पृ

है—कर्त्ता सो भोक्ता । यहाँ ऐसी भी किन्हीं-किन्हीं की मान्यता है कि,

१ – "आत्मा कर्म करने मे स्वतत्र है, भोगने मे परतत्र है।"

२ – आत्मा कर्म का 'कर्त्ता' नहीं है 'भोक्ता' है ।

३ – आत्म न कर्म करता है न भोक्ता है ।

पहला – यहाँ जीव कर्म करने मे स्वतत्र है, क्योकि इच्छा/अज्ञान/अहकारादि से 'कर्म' कर तो लेता है किन्तु फल भोगना उसके वश की बात नहीं है । क्यो ? इसलिए कि कर्म तो 'जड' हैं, वे फल कैसे दे सकते है ? और जीव/कर्त्ता बुरे फल की चाह क्यो करेगा ? फलत ईश्वर, न्यायाधीश की भाँति दण्ड/कर्म फल भुगताने वाला है ।

दूसरा – आत्मा कर्म का कर्त्ता नहीं है किन्तु फल भोगता है, क्योकि प्रकृति महत् है वही अपने गुणो/त्रय के माध्यम से कर्म करती है – **"प्रकृति करोति, पुरुष उपभुङ्क्ते, तथा बुद्ध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते** ।"**

तीसरा – जीव/पुरुष न कर्त्ता है न भोक्ता है । प्रकृति ही करती है और अपने विविध आयामो से शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, अहकार आदि से सुख, दुख कर्म भोगती है । चेतन/पुरुष मात्र द्रष्टा/ज्ञाता रहता है । उसमे यत् किंचित भी परिस्पदन नहीं है, कूटस्थ है ।

इन तीन विकल्पो मे से कोई भी युक्ति एव अनुभव की कसौटी पर कसा नही जाता । ठीक तो यही है—कि

चौथा – "स्वय आत्मा कर्म का कर्त्ता एव भोक्ता है ।"

"स्वयं कृतानि कर्माणि, स्वयमेनुभूयते ।
कर्मणामकृतानां च, नास्ति भोगः कदाऽपि हि ॥"

** सूत्र कृताग १/३/१३ टीका

अर्थात् अपने किये हुए कर्मों का स्वयं ही अनुभव करता है, वेदन करता है भोगता है और जो कर्म किए ही नहीं है उनका भोग कदापि/कभी भी नहीं है ।

वस ।

अंतिममंगल : अरिहन्त मंगल...। चत्तारि मंगलं...।

सोमवार गुलाव सदन
२६ सितम्वर ८८ १९, वर्टन रोड़, वोलारम–१०
सिकन्द्रावाद

चौथा पद

" भोक्ता छे "

शं
का
—
स
मा
धा
न

८ पद

७९ से ८१ पद
८२ से ८६ पद

— श्रीमद्रायचन्द्र

" भोक्ता छे "

शंका

"जीव कर्म कर्त्ता कहो, पण भोक्ता नहि सोय ।
शु समजे जड़ कर्म के, फल परिणामि होय ॥"

•

"फल दाता ईश्वर गण्ये भोक्ता पणु सधाय
एम कहे ईश्वर तणु, ईश्वर पणु ज जाय ॥"

•

"ईश्वर सिद्ध थया बिना, जगत नियम नहि होय ।
पछी शुभाशुभ कर्मना, भोग्य स्थान नहि कोय ॥"

— श्रीमद्‌रायचन्द्र

७९ से ८१ पद

...पण भोक्ता नहीं सोय : शंका

धर्म गीतिका : जेहडी भर भर नैन रूलावे कर्मा दो... ।
मगलाचरण : त्रिभुवन पीडा हरणहार हो...!
: दुनिया के चराचर जीवो पर...!
थुई : दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाण...।

श्रीमद् ने गुरु-शिष्य सवाद के माध्यम से चेतन/जड, अमूर्त्त-मूर्त्त पदार्थो/जो सूक्ष्म, अति सूक्ष्म मूर्त्त होने पर भी नेत्रादि द्वारा ग्राह्य नहीं हैं तथा अमूर्त्त 'आत्मा' जैसी वस्तु का ज्ञान होना दुशक्य है, का सहज-सरल रीति एव भाषा मे समझाने का प्रयत्न किया है । उन छह तत्वो मे 'आत्मा है' 'नित्य है' 'कर्म का कर्त्ता है', इन तीन पदो का सविस्तार पारायण हो चुका है । आज चौथा पद कि, "आत्मा अपने कर्म का भोक्ता है," का पारायण है । इसमे शिष्य गुरुदेव से अपने मन की जिज्ञासा/शका को प्रस्तुत करते हुए कहता है – "जीव कर्म का भोक्ता नहीं है," वह किस प्रकार ? सुनिए— ।

"जीव कर्म कर्त्ता कहो, फल भोक्ता नहि सोय ।
शु समजे जड़ कर्म के, फल परिणामी होय ॥७९॥"

"अर्थात् भले ही जीव को कर्म का कर्त्ता कहा जाय तो भी वह कर्म का भोक्ता नहीं ठहरता/नही हो सकता । क्योकि जड कर्म क्या समझे इसको कि वे फल देने मे परिणमन होते है, अर्थात् फल देने वाला हो सकता है ?"

इस पद मे दो तत्वो का उल्लेख हुआ है—

एक- जीवात्मा भले ही कर्म का कर्त्ता हो किन्तु कर्मफल का भोक्ता नही है ।

दो- कर्म जड है, यह फल/परिणाम मे परिणत होता है, ऐसा इनको कहाँ ज्ञान है ?

इस पद मे शिष्य ने जिज्ञासा/शका का कारण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि यदि जीवात्मा को कर्म का कर्त्ता मान भी लिया जाय तथापि वह कर्म का 'भोक्ता' नहीं हो सकता । क्यों ? जव कर्म का कर्त्ता है, किया है उसने तो उसका फल भुगतना ही होगा ! कहावत भी है "कर्त्तुम् सो भुक्तम् ।" "करेगा सो भरेगा," फिर भोक्ता क्यों नहीं हो सकता ? वात सही है, न्यायिक भी है, करेगा, फल उसी को ही मिलेगा । आगम मे प्रभु महावीर/श्रमण भगवान ने भी कहा है — **"कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं"** कर्म कर्त्ता का अनुसरण करता है ।* किन्तु यहाँ फल भुगतने को नकारा नहीं गया है अपितु कर्त्ता स्वय ही अपने कर्म का फल नहीं प्राप्त कर सकता । जव तक कि न्यायाधीश की भाँति दण्डरूप कर्मफल देने या भुगतवाने वाला न हो । दूसरी वात, **"शु समजे जड़ कर्म के,"** कर्म जड़ हैं/पौद्गलिक हैं, तो इनमे समझ कहाँ, कैसे है, कि इसको मैने अमुक फल देना है । अथवा, जड कर्म मे अच्छे-वुरे फल रूप मे परिणत होने की ज्ञान/शक्ति कहाँ है ? एक विचारक ने भी कहा है—

"पाप कुर्वन्ति मानवाः पापस्य फल न इच्छन्ति ।
पुण्य न कुर्दन्ति मानवाः पुणस्य फलमिच्छन्ति ॥"

अर्थात् मनुष्य पाप करता है किन्तु उसका फल नहीं चाहता, पुण्य कर्म करता नहीं, किन्तु पुण्य-फल चाहता है । मनुष्य की यह वृत्ति है, वह अज्ञ है अतएव स्वय फल का भोक्ता नहीं हो सकता । अपराधी स्वय सजा/दण्ड थोडे ही भोगता है ? इसलिए कहा है—

"जीव कर्म कर्त्ता कहो, पण भोक्ता नहीं सोय"

वन्धुओं ! कर्म एव फल भोग के वारे मे इस धरती पर अनेक मान्यताएँ प्रचलित है । उन सवका कारण कर्म का

---

* उत्त १३/२३

सूक्ष्म होना, जड होना तथा ससारस्थ आत्मा का अज्ञान/मोहावरण युक्त होना है । जितना-जितना आवरण झीना होता है उतना-उतना मतिज्ञान प्रस्फुटित होता है और उससे तत्व की जानकारी होती है । अत इस ज्ञान की तरतमता ही मान्यता के वैभिन्य का कारण है ।

—'साख्य दर्शन मे आत्मा को कर्त्ता-भोक्ता नहीं माना, प्रकृति को ही कर्त्ता-भोक्ता कहा है पुरुष तो मात्र द्रष्टा है ।'

अन्य मान्यताओ का उल्लेख करता हुआ शिष्य निवेदन करता है कि, —

"फल दाता ईश्वरगण्ये, भोक्ता पणु सधाय ।
एम कहे ईश्वर तणु, ईश्वर पणु ज जाय ॥८०॥"

— "फल देनेवाला यदि ईश्वर को मान लिया जाय तो भोक्तापन/भोक्तृत्व सिद्ध हो सकता है, अर्थात् जीव को ईश्वर कर्म भुगतवाता है, इसलिए जीव कर्मो का भोक्ता सिद्ध हो जाता है । किन्तु पर-दूसरे को कर्मफल आदि देने की प्रवृत्ति वाला ईश्वर माना जाय/ईश्वर को ऐसा कहा जाय तो उसका ईश्वरत्व/ईश्वरपना ही चला जाता है ।"

इस पद मे दो बातो पर विशेष ध्यान दिया गया है—

१. फलदाता ईश्वर है ।
२. फलदाता ईश्वर नहीं है ।

एक : कर्म फल का प्रदाता ईश्वर है । स्वय कर्म फल नहीं देता तथा कर्म करने वाला फल भोगने की इच्छा क्यो करेगा ? विशेषत अशुभ/कुत्सित कर्म फल को। चौर्य कर्म करने वाला, हिस्र कर्म वाला हिसक/कातिल/खूनी व्यक्ति दण्ड/मार, कारावास, मृत्यु को कब चाहेगा ? आरक्षी, न्यायाधीश द्वारा ही भोगते हैं ।

शिष्य की पूर्व पद मे प्रकट जिज्ञासा कि, **"पण भोक्ता नहीं सोय,"** तथा **"शु समजे जड़ के फल परिणामी होय—"** जीव कर्म का कर्त्ता हो भले ही किन्तु उसका

भोक्ता नहीं हो सकता क्योकि जड कर्म क्या समझते हैं, 'वे परिणामी हैं और फल देने की शक्ति रखते हैं,' के बारे मे किसी अन्य दर्शन की दो मान्यताओं का उल्लेख करते हुए तथा आत्मा को 'भोक्ता' सिद्ध करने के लिए यहाँ 'ईश्वर' की कल्पना की है कि, **"फलदाता ईश्वर गण्ये,"**- यदि कर्म का फल देने वाला ईश्वर को मान लिया जाय तो जीव का भोक्ता रूप सिद्ध हो सकता है —**"भोक्ता पणुं सधाय ।"** अन्यथा नहीं ।

दूसरी : यदि ईश्वर को कर्म फल दाता/देने वाला कहा जाय तो - **"ईश्वर पणुं ज जाय"** उसका 'ईश्वरत्व' ईश्वर गुण ही नहीं रहता ।

इसे विस्तार से इस प्रकार समझने का प्रयत्न करें— ।

"कर्म का फल ईश्वर देता है; यदि ऐसा माना जाय तो वहाँ 'ईश्वरत्व' स्वरूप नहीं रहता । क्योंकि "पर/अन्य को फल देना" आदि प्रपच मे प्रवृत्ति करने से 'ईश्वर' के देहादि, अनेक प्रकार का सग/सयोग, आसक्ति/मोहादि की सभावना होगी, उससे "यथार्थ शुद्धता' का भग होता है । मुक्त जीव जिस प्रकार निष्क्रिय है, अर्थात् पर-भावादि का कर्त्ता नहीं; यदि पर-भावादि का कर्त्ता हो तो उसे ससार की प्राप्ति होती है, इसी प्रकार 'ईश्वर' भी 'पर' को फल देने आदि रूप क्रिया मे प्रवृत्त होता है तो उसे भी पर-भावादि के कर्त्तापन का प्रसग आता है, और मुक्तजीव की अपेक्षा न्यूनत्व ही ठहरता है, उससे तो उसका 'ईश्वरत्व' - ईश्वरपन उच्छेद की स्थिति हो जाती है ।

इस प्रकार जीव और ईश्वर का स्वभाव भेद मानते हुए भी अनेक दोषो की सभावना है, दोनो को यदि चैतन्य स्वरूप माना जाय तो दोनो समान धर्म वाले कर्त्ता होते हैं; उसमे ईशर जगतादि की रचना करता है अथवा कर्म फल देने रूप कार्य करें तथापि मुक्त माना जाय, और जीव एकमात्र देहादि की सृष्टि रचता है और अपने कर्मो के फल

को प्राप्त करने के लिए 'ईश्वर' का आश्रय ग्रहण करता है, इस प्रकार 'बध मे गणना' ये बात यथार्थ मे दिखाई नहीं देती। यह विषमता किस प्रकार सभावित हुई ?

यदि 'जीव' से ईश्वर सामर्थ्य विशेष माना जाय तो भी विरोध आता है। ईश्वर को शुद्ध चैतन्य स्वरूप गिना जाय तो शुद्ध चैतन्य ऐसा मुक्त जीव मे और उसमे भेद दिखाई नहीं देना चाहिए। अथवा मुक्त जीव से भी वे कार्य हों, और ईश्वर के, जो अशुद्ध चैतन्य रूप माने तो वह ससारी जीव जैसी उसकी दशा ठहरती है, तो/उसके बाद/वहॉ सर्वज्ञादि गुण की सभावना कैसे होगी ? अथवा देहधारी सर्वज्ञ की अपेक्षा 'देहधारी सर्वज्ञ ईश्वर' माने तो भी 'सर्व कर्म फल' दातृत्व रूप विशेष स्वभाव ईश्वर मे किस गुण के आधार पर प्राप्त मानना योग्य है ?/माना जाय। और देह तो नाश को प्राप्त होने योग्य है, उससे ईश्वर की देह का भी नाश होगा, तथा वे मुक्त हुए, कर्म फल दातृत्व न रहे, यह तथा अन्य अनेक प्रकार से ईश्वर को कर्मफल दाता, दातृत्व कहते हुए दोष आता है और ईश्वर को उस स्वरूप वाला मानते हुए ईश्वरपन/ ईश्वरत्व का उत्थापन समान हो जाता है। अर्थात् उत्थापन होता है।"

बन्धुओ। इस प्रकार यहॉ दो मान्यताओ का उल्लेख हुआ है —

एक : 'फल प्रदाता ईश्वर है', **दूसरी,** यदि ईश्वर को 'फलदाता' मान लिया जाय तो उसका 'ईश्वरत्व' ही दूषित हो जाता है। क्योकि कर्म मुक्त जीव/शुद्धात्मा–चैतन्य तथा कर्मयुक्त ससारस्थ जीव, इन दोनो मे अन्तर है, अवस्था भेद है। निश्चय दृष्टि से, तत्त्वत जीवात्मा शुद्ध, अक्रिय–अजन्मा, देहातीत होता हुआ भी व्यवहार दृष्टि से अज्ञान/मोह; माया–अविद्या युक्त, कर्म का कर्त्ता, शरीर–ससार का धर्त्ता है। पुनश्च, ईश्वर/परमात्मा भी निराकार, निरजन है, फलत उस मुक्त को जगत का कर्त्ता, कर्मफल का भुगताने वाला आदि मानने से उसके 'शुद्ध स्वरूप' द्रष्टा/ज्ञाता आदि का अपलाप हो जाता है।

साख्य, पूर्व मीमासक, बौद्ध तथा जैन दर्शन परमात्मा को कर्त्ता के रूप मे स्वीकार नहीं करते न कर्म का प्रेरक, न कर्मफल प्रदाता, न जगतकर्त्ता और न नियन्ता । उनका मानना है कि ईश्वर शुद्धस्वरूप, कूटस्थ नित्य, अपरिणामी, द्रष्टा है। वह अक्रिय है न कर्म का कर्त्ता है, न भोक्ता है, सृष्टि का रचियता भी नहीं है । ये सर्व कार्य प्रकृति के हैं, अनादि से हैं ।

जैन धर्म इसे और स्पष्टता से कहता है कि "जो कर्त्ता है वही भोक्ता है" — जीवात्मा/पुरुष/चेतन ही अपने अज्ञान/ मोह के कारण कर्म, शरीरादि का कर्त्ता है और उसके फल का भोक्ता है । ईश्वरादि किसी अन्य अदृश्य शक्ति का हस्तक्षेप नहीं है ।

जैन दर्शन ने 'ईश्वर' नाम की कोई सत्ता स्वीकार नहीं की । शुद्ध, सिद्ध आत्मा–परमात्मा को माना है । वह शुद्धस्वरूप है निराकार–निरंजन है, अकर्त्ता, अक्षय, अनन्त है। 'ईश्वर' जो जगत का कर्त्ता/रचियता तथा कर्मफल प्रदाता, सुख–दु खदाता आदि प्रवृत्ति वाला हो उसे स्वीकार नहीं किया। क्योंकि ईश्वर का अर्थ है स्वामी, मालिक और मालिक का हुक्म चलता है, यदि आप स्वामी मानोगे तो उसकी सत्ता भी माननी पडेगी/स्वीकार करनी पडेगी, और फिर मालिक की इच्छा है जो चाहे आपसे काम करवाये और मालिक की इच्छा है आपसे कराये या न भी कराये क्योकि वहॉ पराधीनता है, स्वाधीनता नहीं है, फलत जीव कर्म आदि कुछ भी करने मे स्वतन्त्र नहीं है, परतन्त्र है ।

किन्तु यहॉ प्रश्न 'चेतना और जड' स्वभाव के कारण उत्पन्न होता है कि, कर्म जड है और उसे ज्ञान नहीं है कि किसे, कितना, कैसा–तीव्र–मन्द फल देना है । अतएव भोक्ता के लिए किसी तीसरी शक्ति/कर्त्ता और कर्म से भिन्न को स्वीकार करने से 'भोक्ता' रूप उपयुक्त ठहरता है अन्यथा नहीं।

यह जिज्ञासा ईश्वरवादियो की है अत उन्होने इसका समाधान 'ईश्वर' को कर्त्ता मानकर ही किया है । विराट विश्व का सर्जन, कर्मफल का भुगतान आदि बिना 'ईश्वर' के सध नहीं सकते, ऐसी मान्यता है – न्याय-वैशेषिक दर्शन, वेदान्त दर्शन, उत्तर मीमासा आदि की ।

वेदान्त मे भी कई मान्यताएँ प्रचलित हैं — द्वैताद्वैत, भेदाभेदवाद, शुद्धाद्वैत, सत्योपधिवाद भेदवाद आदि तथा आचार्य शकर ने 'ब्रह्म विवर्तवाद' की प्रतिष्ठा की है । इसमे 'ब्रह्म' के अतिरिक्त किसी अन्य तत्व को स्वीकार ही नही किया है। वह नाना जीवो से न तो उत्पन्न हुआ और न जीवो को उत्पन्न किया है । माया के कारण ऐसा सर्प-रस्सी की तरह प्रतीत होता है । मूर्त्त/दिखाई देने वाला जगत् शून्य है/माया रूप है/भ्रम-भ्रान्ति रूप है, मिथ्या है । बस, ब्रह्म ही सत्य है – **"ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या," "एकमेव खल्विद ब्रह्म द्वितीय नास्ति"** यही विवर्त है, ब्रह्म विवर्तवाद है ।

विभिन्न मान्यताएँ :

'ब्रह्म' शुद्ध है किन्तु वह माया रूप भी है । और यह माया ही ससार, दु ख-सुख आदि का कारण है ।

एक अन्य मान्यतानुसार जीव ब्रह्म का अश है, उससे उत्पन्न हुआ है । फलत सत्-चिद् रूप है । आनद रूप नहीं है इसलिए परिभ्रमण/आवागमन करता है, सुख-दु ख भोगता है । कर्म करने मे माया के कारण स्वतत्र है, फल के लिए नही ।

इस प्रकार बन्धुओ। कर्मफल के भोग के लिए जीव को स्वतत्र नहीं माना । पुराण ने सर्जा, सरक्षक, सहारक इन तीनो को ब्रह्मा/विष्णु/महेश के नाम से प्रतिष्ठित किया है । इस प्रकार ससार के वैविध्य और उसके वैचित्र्य को भिन्न-भिन्न दृष्टियो से देखा गया है अत एक दूसरे से मेल नही खाती । फलत व्यक्ति को सशयशील होना स्वाभाविक है विशेषत जिज्ञासु और बुद्धि-स्फुरणा वाले व्यक्ति का ।

भक्त व्यक्ति तथा मद बुद्धि विश्वास से काम लेता है, किन्तु बुद्धिमान/जिज्ञासु तो 'ननु नच' करेगा ही जव तक उसकी मन. सतुष्टि न हो जाय ।

शिष्य ने पुन उसे दोहराते हुए कहा है कि—

"ईश्वर सिद्ध थया बिना, जगत नियम नहीं होय ।
पछी शुभाशुभ कर्मनां, भोग्य स्थान नहीं कोय ॥८१॥"

"— ऐसे फलदाता ईश्वर के सिद्ध न होने से जगत् का कोई भी नियम नहीं रह सकता ऐर उसके न रहने से शुभ–अशुभ कर्मो के भोगने के लिए कोई स्थान भी नहीं ठहरता, तव जीव का/कर्म का/भोक्तृत्व/भोक्तापन कहॉ रहा ?"

इस पद मे भी दो बातो का उल्लेख किया है —

एक : ईश्वर के अभाव मे जगत् का अभाव होना ।

दूसरी : जगत् नियम के अभाव मे/उसके न रहने से भोग्यस्थान/नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव जीवन के स्थानों, चारगति, चौरासी लाख जीव योनियों का अस्तित्व भी नहीं रहना ।

बन्धुओं! यह मान्यता पौराणिकों की भी है कि, सर्व प्रथम एक ब्रह्म ही था, लोक शून्य रूप था यानि कुछ भी नहीं था । ब्रह्मा ने एक अडा बनाया । धीरे–धीरे वह बड़ा हुआ, कालान्तर मे दो भाग हो गए । एक भाग से अधो लोक बन गया, दूसरे से ऊर्ध्व लोक वन गया । बाद मे अन्यान्य वस्तुओं/पदार्थों की उत्पत्ति हुई । "**एगे आह अंड कडे जगे** ।" ** जीव–अजीव युक्त सुख–दुखमय यह लोक ईश्वर का बनाया हुआ है — "**ईसरेण कडे लोए, जीवाजीव समाउत्ते सुहदुक्ख समान्निए** ।"

— स्वयंभू ने लोक बनाया, उसने यमराज की उत्पत्ति की, तथा यमराज ने माया बनाई, माया से जगत के जीव मरते

** सूत्र. १/१/३/८

है अत. लोक अनित्य है । " **सयभूणा कडे लोए, मारेण सथुया माया** ।"***

— शैवमत मे परम ब्रह्म के स्थान पर एक 'अनुत्तर' तत्व की मान्यता है । "यह सर्व शक्तिमान नित्य पदार्थ है । उसे शिव या 'माहेश्वर' भी कहा है । उसकी इच्छा से ही 'जीव और जगत' — ये दोनो शिव की इच्छा से शिव से ही प्रकट होते हैं, अत ये दोनों पदार्थ मिथ्या नहीं, किन्तु सत्य है ।"

— विज्ञान भिक्षु का 'अविभागाद्वैत" भी वेदान्त का विभाग है । उसकी मान्यता है कि, "ईश्वर की इच्छा से जीव और प्रकृति मे सबन्ध स्थापित होता है और जगत् की उत्पत्ति होती है । पुरुष या जीव अनेक हैं, नित्य है, व्यापक हैं । जीव और ब्रह्म का सबन्ध पिता और पुत्र के सम्बन्ध के समान है । वह **अशाशिभाव** युक्त है । जन्म से पूर्व पुत्र पिता मे ही था, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म मे था, ब्रह्म से ही वह प्रकट होता है तथा प्रलय के समय ब्रह्म मे ही लीन हो जाता है । अत प्रकृति और पुरुष (जीव) ये दोनों ब्रह्म से भिन्न होकर विभक्त नहीं हो सकते, किन्तु वे उसमे अन्तर्हित - गुप्त अविभक्त हैं, अत इनके मत का नाम 'अविभागाद्वैत' है ।"

इन दृष्टिकोणों से यह स्पष्ट होता है कि जीव स्वतत्र नहीं है, न कर्म करने मे और न कर्मफल के भोगने मे । भले ही यह कहा जाय कि जीव अविद्या/माया आदि मे भ्रमित हुआ दुख–सुख, जन्म–मरण करता है, वह कर्म करने मे स्वतत्र है, किन्तु यह बात भी उपयुक्त नहीं बैठती ।

— जीव परतत्र है, बन्धन मे है; अश है, अज्ञ है । अधिकाश मान्यताओ मे वह परमात्मा के सान्निध्य, सामीप्य म रह सकता है किन्तु ब्रह्म मे लीन, परमात्मा स्वरूप नहीं हो सकता ।

*** वही, ६७वीं गा

— निर्गुण उपासक सत कबीरदास ने 'जीव को ब्रह्म का अश' ही माना है जो कभी उससे पृथक् नहीं हो सकता, जैसे कागज पर लगा स्याही का विन्दु/निशान अलग नहीं होता ।

"कहु कबीर इहु राम को अंशु ।
जस कागद पर मिटे न मशु ॥"

वस, आज इतना ही।

अन्तिममंगल : अरिहंत मगलं...। चत्तारि मंगलं...।

मगलवार
२७ सितम्वर '८८

गुलावसदन
१९ वर्टन रोड, वोलाराम-१०
सिकन्द्रावाद

४

" भोक्ता छे "

समाधान

"झेर सुधा समजे नहीं, जीव खाय फल थाय ।
एम शुभाशुभ कर्मनु, भोक्ता पणु जणाय ॥"

•

"फलदाता ईश्वरतणी, एमा नथी जरूर ।
कर्म स्वभावे परिणमे, थाय भोग थी दूर ॥"

•

"एक रक ने एक नृप, ए आदी जे भेद ।
कारण बिना न कार्य ते, ए ज शुभाशुभ वेद्य ॥"

— श्रीमद्‌रायचन्द्र

८२ से ८६ पद

"झेर-सुधा.जीव खाय फल थाय" : समाधान

मगलाचरण	:	त्रिभुवन पीडा हरणहार हो...!
	:	दुनिया के चराचर जीवों पर...।
धर्म गीतिका	:	तेरी जिन्दडी चार दिना दी ए...!
थुई	:	दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाण...!

बन्धुओ। श्रीमद् ने गुरु-शिष्य सवाद के माध्यम से छह पदों का समीचीन ज्ञान कराने का प्रयत्न किया है । "कर्मफल का भोक्ता है" इस पर जिज्ञासा/शका प्रकट करते हुए शिष्य ने कहा है — **"पण भोक्ता नहीं सोय"** जीवात्मा फल का भोक्ता नहीं है । किन्तु सद्गुरु शिष्य की उन शकाओ का सामाधान करते हुए कहते हैं कि, "जीव मे अपने/स्वय किए हुए कर्मो के फल का भोक्तृत्व/भोक्तापन है—" ।

"भाव कर्म निज कल्पना, माटे चेतन रूप ।
जीव-वीर्य नी स्फुरणा, ग्रहण करे जड़ धूप ॥८२॥"

—"भावकर्म जीव की अपनी भ्रान्ति है, इसलिए भ्रान्तिवश उसे चेतना रूप मान बैठा है । और उस भ्राति के वशवर्ती होने से तथा जीव-वीर्य/एक शक्ति/की स्फरणा होती है उसी के द्वारा जड-रूप द्रव्य कर्म की वर्गणाओं को ग्रहण कर लेता है ।"

इस पद मे चार बातों/तत्वों का उल्लेख हुआ है—

१. भाव कर्म, २. जड मे चेतन बुद्धि ३. जीव-वीर्य-स्फुरणा ४. जड-धूप का ग्रहण

निष्कर्ष यह है कि—

१ - भाव कर्म को भ्रान्तिवश चेतन रूप मानना ।

२ - जीव-वीर्य की स्फुरणा से जड को ग्रहण कर लेना ।

१. **भाव कर्म** -मन के राग-द्वेषादि परिणाम/भाव, जिससे द्रव्य कर्म-वर्गणा को ग्रहण करता है; भाव कर्म कहा है — कर्म मे निमित्त परिणाम ।

२. **जड़ में चेतन बुद्धि** -राग-द्वेष से अज्ञान/भ्रमित होकर भाव कर्म—राग-द्वेष-कषायादि को चेतन रूप स्व-धर्म-गुण मानना, जड़ मे चेतन वुद्धि है ।

३. **जीव-वीर्य-स्फुरणा** -जीव मे एक प्रकार की शक्ति जिससे मन आदि मे स्फुरणा/स्पदना उत्पन्न होती है ।

४. **जड़ धूप का ग्रहण** - वीर्य-स्फुरणा के कारण ही जीव 'जड' को भी ग्रहण करके सुख-दु:ख का अनुभव करता है। जैसे 'धूप' आदि को ग्रहण करके अनुभव करता है ।

इस पद मे गुरुदेव ने सर्व प्रथम जीव द्वारा 'कर्म-ग्रहण' की वात कही है कि, 'कर्म का ग्रहण' - कर्म वन्ध किस प्रकार होता है । आओ वन्धुओं, अपन पहले इस पर ही चर्चा कर ले — ।

तत्त्व दृष्टि/निश्चय नय से जीव नित्य है, शुद्ध है, शुद्ध उपयोग वाला तथा चेतना गुण एव परिणामी और वह अक्रिय है । किन्तु व्यवहार दृष्टि से नित्य-अनित्य, अशुद्ध/कर्ममल युक्त, ससार-परिभ्रमण करने, कर्म का कर्त्ता/सक्रिय है ।* 'जीव निज कर्म का कर्त्ता है' इससे पूर्व तीसरे पद मे इन सवका उल्लेख हो चुका है, यहाँ पुनः सक्षेप मे दोहरा दूँ ।

---

* "जीवो त्ति हवदि चेदा उवओग विसेसिदो पहू कत्ता ।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्म सजुत्तो ॥" — पच २७
—'वह जीव चेतयिता है, उपयोग से विशिष्ट है, प्रभु है, कर्त्ता भोक्ता है, अपने शरीर प्रमाण है, अमूर्त्त, पर कर्मो से सयुक्त है ।'

कर्म को ग्रहण करने अथवा कर्म बन्ध की प्रक्रिया इस प्रकार है —,

जीव/सशरीरी आत्मा जहॉ भी जिस क्षेत्र-स्थान मे/आकाश-प्रदेश मे स्थित होता है, वहॉ कर्म-वर्गणा/कर्म बनने योग्य सूक्ष्म पुद्गलो/अणुओ का समूह व्याप्त रहता है, जीव अपने राग-द्वेषादि भावो से, जिन्हें उसने भ्रान्तिवश स्वभाव मान लिया है, वस्तुत वे विभाव है, पुद्गल रूप हैं तत्आकाश-प्रदेश स्थित उन वर्गणाओ को मनादि योगो के माध्यम से अपने आत्म-प्रदेशो पर ग्रहण कर लेता है । जैसे तैल से लिप्त शरीर पर वायु आदि के माध्यम से धूलि-कण आकर जम जाते हैं । यह बन्ध नीर-क्षीर/दूध-पानी और लौह-अग्नि की भॉति होता है । आत्म-प्रदेशो पर कर्माणु इस प्रकार स्थित हो जाते है । यह बन्ध भी स्वरूप दृष्टि से चार प्रकार का होता है । इतना ध्यान रहे कि जब तक रागादि भावों की स्फुरणा नहीं होती, योगों की परिस्पन्दना मे, तब तक 'कर्म बन्ध' नहीं होता । यो ही कर्म वर्गणाऍ आकर बलात् नहीं चिपट जाती, और न ही सुख-दुख देती है ।**

इसी प्रक्रिया के आधार पर ही कर्म के दो भेद हैं — द्रव्य कर्म और भाव कर्म । द्रव्य कर्म है कार्मण वर्गणा/कर्म धूलि । भाव कर्म इन वर्गणाओ को ग्रहण करने मे आन्तरिक अज्ञान/मोह से उत्पन्न राग-द्वेषादि भाव/परिणाम/अध्यवसाय हैं ।*** इस पद मे भी कर्म-भेद का सकेत देते हुए कहा है—'**भाव कर्म निज कल्पना**' अर्थात् भाव कर्म क्या है ? क्योकि 'परिणामेबन्ध' के अनुसार राग-द्वेष अध्यवसाय/ मूलभूत कर्मबन्ध के कारण हैं । किन्तु ये भी 'निज कल्पना' है । कल्पना का अर्थ यहॉ भ्रान्ति है । पर/जड-पौद्गलिक को अपना स्वभाव मानकर ही जीव/आत्मा राग-द्वेष आदि को

** "करणओ सा दुक्खा, नो खलु सा अकरणओ दुक्खा ।"
—भग १/१०

*** "कम्मत्तणेण एक्क, दव्व भावो त्ति होदि दुविह तु ।
पोग्गल पिडो दव्व, तस्सत्ती भाव कम्म तु ॥" —गोम्म, कर्म ६

करता है, उसे '**माटे चेतन रूप**' चेतन /आत्म-स्वरूप मानता है, यही कर्म ग्रहण का कारण है, यही भ्राति है ।

पद के तीसरे पाद मे "**जीव वीर्य नी स्फुरणा**" की वात कही है । वह क्या है ? तनिक इस पर विचार कर ले — ।

आत्मा/जीव अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और शक्ति गुण से युक्त है । इस 'शक्ति' को ही 'वीर्य' कहकर पुकारा है ।× यह दो प्रकार का है - लव्धि और करण । वालवीर्य, पडित वीर्य, लव्धि शक्ति रूप है, करण क्रिया रूप है । ससारी, सकर्म जीव मे करण तथा वाल-पडित वीर्य होता है, मुक्त मे नही । ससारी जीव के वीर्य अन्तराय कर्म के आवरण से यह वीर्य मन्द तथा यथा-क्षयोपशम से जागृत होता है; इससे ही मन-वचन-काय योगों मे परिस्पदना/व्यापार/ एक्टिविटि/प्रवृत्ति स्फुरित होती है, उससे ही द्रव्य कर्म/कर्म-वर्गणा को ग्रहण करता है । यहॉ यह ध्यान मे रखने योग्य वात है कि वालवीर्य अशुभ कर्मवन्ध तथा पडितवीर्य अशुभ कर्म की निर्जरा-सवर एव शुभ कर्म के वन्ध मे निमित्त हैं । वीर्य-स्फुरणा के विना मनादि योगों मे प्रवृत्ति नहीं होती, वे जडवत् ही रहते हैं ।

प्रसगवश आपको आगम मे उल्लिखित कर्मवन्ध मे हेतुओं तथा उनकी उत्पत्ति का ज्ञान करा दूँ । जिसमे वीर्य का अपना महत्व है । हॉ तो, गौतम स्वामी जी ने 'काक्षा मोह कर्म' के वन्धन-विषय मे पृच्छा करते हुए कारणों की जिज्ञासा की है कि वह किन कारणों से वॉधता है ?

भगवान - गौतम। उसके दो हेतु हैं - प्रमाद और योग ।
गौतम - भगवन्। प्रमाद किससे उत्पन्न होता है ?
भगवान - योग से ।
गौतम - भगवन्। योग किससे उत्पन्न होता है ?

× "अनन्त सुख-सपन्न, ज्ञानामृत पयोधरम् ।
अनन्त वीर्य सम्पन्न, दर्शन परमात्मन ॥" —परमा. पच-विश. २

भगवान - वीर्य से ।

गौतम - वीर्य किससे उत्पन्न होता है ?

भगवान - जीव से ।

इस प्रकार जीव शरीर का निर्माता है । शरीर ही क्रियात्मक/करण वीर्य का साधन है । जो जीव शरीरधारी है वही योग और प्रमाद से कर्म का बन्ध करता है ।*

एक अन्य प्रश्नोत्तरो मे 'वीर्य' का उल्लेख हुआ है —

गौतम - जीव सवीर्य है या अवीर्य ?

भगवान - जीव सवीर्य भी है और अवीर्य भी ।

गौतम - भन्ते! यह कैसे ?

भगवान - जीव ससारी और मुक्त दो प्रकार के है । मुक्त तो अवीर्य है । ससारी जीव भी शैलेशी प्रतिपन्न और अशैलेशी प्रतिपन्न से दो प्रकार का है । शैलेशी अवीर्य है । और अशैलेशी प्रतिपन्न जीव लब्धि वीर्य की अपेक्षा सवीर्य है किन्तु करण वीर्य की अपेक्षा से सवीर्य भी है और अवीर्य है । जो जीव पराक्रम करते हैं, वे करण वीर्य की अपेक्षा से सवीर्य हैं और जो अपराक्रमी है, वे करण वीर्य की अपेक्षा से अवीर्य हैं ।**

आगम मे अन्यत्र भी उल्लेख हुआ है —"जो वीर्य कहा गया है वह दो प्रकार का कहा गया है । वीर पुरुष का वीर्य क्या है ? किस कारण वह वीर कहा जाता है ?"

सुव्रत, सकर्म वीर्य और अकर्मवीर्य—इस तरह दो प्रकार का वीर्य कहते हैं । ये दो स्थान हैं, जिनमे मर्त्यलोक के सर्व प्राणी देखे जाते है ।

ज्ञानियों ने 'प्रमाद' को 'कर्म' और 'अप्रमाद' को 'अकर्म' कहा है । अत· प्रमाद के होने से 'वाल वीर्य' और अप्रमाद के होने से 'पण्डित वीर्य' होता है । ***

---

* भगवती, १/३/१२६/१३१

** वही, १/८/२७५-७६

*** सूत्र १/८/१-२-३

निष्कर्ष यह है कि जहाँ प्रमाद है वहाँ राग-द्वेषादि के कारण हिसादि कर्म तथा बालवीर्य है, अज्ञानाविष्ट शक्ति/प्राक्रम है तथा अप्रमाद मे रागादि भावो का उपशम किवा क्षयाग्रसर मे सुव्रताचरण, अकर्म अवस्था/कर्म करते हुए भी पडितवीर्य/ज्ञानयुक्त पराक्रम के कारण अशुभ/अप्रशस्त कर्म का वन्ध नही होता अपितु कर्म-निर्जरण होते हैं ।

चौथे पद मे, **'ग्रहण करे जड़ धूप "** इसी प्रवृत्ति/योगों की स्पन्दना का कार्य/प्रतिफल द्रव्य कर्म, जो जड रूप हैं, ग्रहण करना है । यहाँ ' जड़ धूप ' का प्रयोग किया है । ' जड धूप ' से अभिप्राय 'द्रव्य कर्म' प्रतीत होता है किन्तु ' धूप ' शब्द अस्पष्ट है । शायद जड़/द्रव्य कर्म वर्गणा को ग्रहण करने मे 'धूप ' का दृष्टान्त देकर समझाने का प्रयत्न किया है कि, जिस प्रकार धूप जड है, पुद्गल परिणाम है, किन्तु जीव अपनी स्फुरणा शक्ति से ग्रहण करता है, उसी प्रकार कार्मण वर्गणा को भी ग्रहण करता है ।

अब मूल प्रश्न पर आएँ कि कर्म फलवान् कैसे और जीव उसका भोक्ता किस प्रकार है ?

जीव द्वारा कर्म-ग्रहण हुए किन्तु जड कर्म को क्या समझ है कि उसे अमुक जीव को इस रीति से यह/अमुक ' फल ' देना है अथवा उस फल रूप मे परिणमन होना है ? —**"शु समजे जड़ कर्म के फल परिणामी होय ।"**

इसका समाधान भी इस पद की दूसरी पक्ति मे दिया गया है कि —**" जीव वीर्यनी स्फुरणा, ग्रहण करे जड़ धूप "** ।—जीव वीर्य की स्फुरणा से ग्रहण किए जड कर्म भी, कर्म वर्गणा के पुद्गल भी अपने फल मे, परिणाम मे परिणमन हो जाते हैं । जैसे पूर्वबद्ध कर्म के कारण चेतना विकृत हो जाती है ।

दूसरी प्रकार से - जीव द्वारा ग्रहण किये कर्म को कथचित् 'चेतन' कहा जा सकता है, क्योकि चेतना द्वारा

वीर्य-स्फुरणा से ग्रहण हुए हैं । इसलिए वे मात्र जड नहीं रहे । **"जीवाण चेयकड़ा कम्मा कज्जति, नो अचेयकड़ा कम्मा कज्जति ।"** × जैसे ससर्ग से अमूर्त्त आत्मा कथचित् मूर्त्त हो जाता है, शरीर जड होते हुए भी चेतना के कारण प्रवृत्ति करता है, इसी प्रकार चेतना के कारण कर्म द्रव्य भी, फल मे परिणमित होते हैं । अर्थ-आगम मे, अग्निभूति जी गौतम की "कर्म अस्तित्व की चर्चा" भगवान श्रमण महावीर प्रभु से हुई, का उल्लेख मिलता है । वहाँ भी "मूर्त्त का अमूर्त्त पर प्रभाव कैसे हो सकता है" ऐसा प्रकारन्तर से प्रश्न और उत्तर है, जो पठनीय हैं, श्रोतव्य है । यहाँ मै सक्षेप मे सुना दूँ आपको !—

"अग्निभूति – एक के 'अमूर्त्त' और दूसरे के 'मूर्त्त' होने पर भी जीव तथा कर्म का सम्बन्ध आकाश तथा अग्नि के समान सभव है, यह बात तो मेरी समझ मे आ गई है, किन्तु जिस प्रकार आकाश और अग्नि का सम्बन्ध होने पर भी आकाश मे अग्नि द्वारा किसी प्रकार का अनुग्रह या उपघात नहीं हो सकता उसी प्रकार अमूर्त्त आत्मा मे मूर्त्त कर्म द्वारा उपकार अथवा उपघात सभव नहीं, चाहे उन दोनो का सम्बन्ध हो गया हो ।"*

"भगवान – यह कोई नियम नहीं कि मूर्त्त वस्तु अमूर्त्त वस्तु पर उपकार अथवा उपघात (ह्रास) कर ही न सके । कारण यह है कि हम देखते हैं कि विज्ञानादि अमूर्त्त है, परन्तु मदिरा, विष आदि मूर्त्त वस्तु द्वारा उनका उपघात होता है तथा घी-दूध आदि पौष्टिक भोजन से उनका उपकार होता है, इसी प्रकार मूर्त्त कर्म अमूर्त्त आत्मा पर उपकार अथवा अपघात कर सकते हैं ।"**

× भगवती १६/२

* "मुत्तेणामुत्तिमतो उवघाताणुग्गहा कथ होज्ज ?"

गणधरवाद, १६२७ गा.

** "जध विण्णाणादीण मदिरापाणोसधादीहि"

किन्तु ससारी जीव वस्तुत· एकान्त रूप से अमूर्त्त नहीं, वह मूर्त्त भी है । जैसे अग्नि और लोहे का सम्बन्ध होने पर लोहा अग्नि रूप हो जाता है वैसी ही ससारी जीव तथा कर्म का सम्बन्ध अनादि कालीन होने के कारण जीव भी कर्म के परिणाम रूप हो जाता है, अत वह उस रूप मे मूर्त्त भी है । इस प्रकार मूर्त्त कर्म से कथचित् अभिन्न होने के कारण जीव भी कथचित् मूर्त्त ही है । अत· मूर्त्त आत्मा पर मूर्त्त कर्म द्वारा होने वाले उपकार अथवा अपघात को स्वीकार करने मे कोई दोष नहीं है ।

तुमने जो यह बात कही है कि आकाश पर मूर्त्त द्वारा उपकार या अपघात नही होता, वह ठीक नही है । कारण यह है कि आकाश अचेतन है और अमूर्त्त है अतः उस पर मूर्त्त द्वारा उपकार-अपघात नहीं होता । किन्तु ससारी आत्मा चेतन है तथा मूर्त्तामूर्त्त है; अत उस पर मूर्त्त द्वारा उपकार-अपघात मानने मे कोई हानि नहीं ।"

गुरुदेव ने अन्य दृष्टान्त द्वारा समाधान दिया है कि, 'जीव कर्म फल का स्वय भोक्ता है'—

"झेर सुधा समझे नहीं, जीव खाय फल थाय ।
एम शुभाशुभ कर्म नु, भोक्ता पणुं जणाय ॥८३॥"

— "विष और अमृत स्वय यह नहीं जानते कि हमे इस जीव को फल देना है, तो भी जो जीव विष-अमृत खाता है/पान करता है उसको फल मिलता है । इसी प्रकार शुभाशुभ कर्म भी यह नही जानता कि इन जीवों को यह फल देना है तो भी ग्रहण करने वाला जीव जहर-अमृत परिणाम की रीति से फल प्राप्त करता है ।"

सक्षेप : इस पद मे एक दृष्टान्त द्वारा 'कर्म फलवान् होते है' समझाया गया है —

"विष-अमृत/जहर-अमृत भी जड है, ये भी समझते नहीं हैं, इन्हे ज्ञान नहीं है तथापि खाने पर परिणाम होता है -

एक शरीर की हानि करता है दूसरा शरीर को निरोग/पुष्ट करता है । इसी प्रकार कर्म भी अपने शुभ-अशुभ फल का प्रभाव रखता है ।***

इस पद मे, —**"शु समजे जड़ कर्म के फल परिणामी होय"** का सटीक उत्तर दिया गया है । क्योकि तत्त्वत कर्म भी जड है, मूर्त्त हैं तथा विष और अमृत भी जड, मूर्त्त है, यहाँ दोनो मे समानता है, मात्र अन्तर तो दृष्ट और अदृष्ट, स्थूल-सूक्ष्म का है । कर्म सूक्ष्म होने से इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं पर उनका कार्य/उपकार-उपघात तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है, अमृत और विष की भाँति । **"जीव खाय फल थाय"** किन्तु जहाँ तक 'समझ' का प्रश्न है वहाँ तक न तो जहर/विष समझता है और न ही शुभ-अशुभ कर्म ही समझते हैं, क्योकि तत्त्वतः स्वरूप दृष्टि से जड हैं, चेतन नहीं । 'समझ' का सम्बन्ध मति/बुद्धि के साथ है और मति का सम्बन्ध या उत्पत्ति ज्ञान से है एव ज्ञान आत्मा का गुण है । फलत 'समझ' जड मे नही वह चेतन मे ही हो सकती है। इसीलिए कहा —**"झेर-सुधा समझे नहीं,"** भले ही न समझे किन्तु ग्रहण करने वाले जीव पर प्रभावी होते हैं न ? इसी प्रकार कर्म के बारे मे मानना चाहिए कि वह भी फल देता है, शुभ-शुभफल, अशुभ-अशुभफल देता है, जैसा जीव ने कर्म को ग्रहण किया है । इस प्रकार जीव यहाँ 'कर्म का भोक्ता' सिद्ध होता है ।

तत्त्वदृष्टि से भी विचार करें, —जीव और अजीव दोनो पदार्थो/द्रव्यो मे अनेक/अनन्त गुण/धर्म और स्वभाव है । इनके कारण ही जगत् मे वैचित्र्य है । इस विचित्रता मे कहीं जीव और अजीव दोनो की शक्ति काम करती है तो कहीं अकेले अजीव द्रव्य की । फलत कर्मफल का भोक्ता होने मे कोई आश्चर्य और आपत्ति प्रतीत नहीं होती है ।

*** तुलना कीजिए गणधरवाद की गा १६३७ -
"जध विण्णाणादीण मदिरापाणोसधादीहि ।"

प्रकृति बन्ध : गृहीत कर्म परमाणुओं का भिन्न-भिन्न ज्ञानावरण आदि प्रकृति-रूप मे परिणत होना 'प्रकृति वन्ध' है। प्रकृति का अर्थ है स्वभाव । आठ कर्मो के आठ स्वभाव है ।

प्रदेश बन्ध : योगो (मनादि) की प्रवृत्ति के तारतम्य/न्यून-अधिक/कम-ज्यादा होने से कर्म-परमाणुओं की अधिकसख्या का ग्रहण होना तथा कम होने पर कम सख्या मे होना, इसे 'प्रदेश वन्ध' कहते हैं । तादाद, क्वाटिटी ।

स्थिति बन्ध : कर्म विपाक/फल का काल/जीव द्वारा गृहीत कर्म-परमाणुओ का अमुक काल तक फल देने की शक्ति का रहना अथवा आत्म-प्रदेशों पर स्थित रहना 'स्थिति-वन्ध' है । अर्थात् मयाद, अवधि, डयूरेशन ।

अनुभाग बन्ध : कर्म विपाक/सुख-दु.ख-विपाक की तीव्रता और मन्दता का होना । गृहीत कर्म मे फल शक्ति की तीव्रता-मन्दता का होना **"अनुभाग या अनुभाव/रस बन्ध"** कहलाता है । परिणाम, फ्रयूट ।

इनमे प्रथम के दो वन्ध मनदि योगो की प्रवृत्ति पर निर्भर करते हैं तथा अन्त के योगों की प्रवृत्ति मे आत्म-परिणाम कषाय-क्रोधादि भावों की, लेश्या की मात्रा के अनुसार होता है । **"परिणामे बन्ध"** के अनुसार — एक वात ध्यान मे रहे कि, कषाय की तीव्र या मन्द मात्रा न हो तो कर्म-परमाणु आत्मा के साथ सम्वद्ध नहीं रह सकते । जिस प्रकार सूखी दिवार पर धूल चिपकती नहीं है, केवल स्पर्श करके झड जाती है, उसी प्रकार 'आत्मा मे' कषाय की स्निग्धता के न होने पर कर्म-परमाणु भी सम्वद्ध नहीं होते । सम्वद्ध न होने पर उनका विपाक/रस/फल भी नहीं हो सकता ।

इस प्रकार जीव वन्ध योग्य कर्म-पुद्गलों/द्रव्य कर्म वर्गणा को ग्रहण करता हुआ इन चार वातों का भी निर्माण करता

है । जिन-जिन भावो तथा क्रिया से कर्म का सम्पादन करता है वैसा-वैसा अर्थात् सगृहित सामग्री के अनुसार कर्म पुद्गलों मे स्वभाव, सख्या, स्थिति और रस का सचार हो जाता है । इससे किसी/जीव और कार्मण-वर्गणा के अतिरिक्त/तीसरी शक्ति की अपेक्षा नहीं है । इसे इस प्रकार समझा जा सकता है-, जैसे गाय घासादि खाद्य ग्रहण करके दूध देती है और उस दूध मे चार बाते निहित होती हैं —

प्रकृति - दूध वात प्रकृति वाला है या नहीं । जैसे भैस का अधिक वायुवाला माना गया है ।

परिमाण - दूध का परिमाण- किलो, दो किलो आदि अमुक परिमाण मे होना ।

कालमर्यादा - कितने काल तक दूध का बने रहना/उस कालमर्यादा के बाद दूध विकृत हो जाता है, बिगड जाता है । फट जाता है, जम जाता है ।

स्वाद/रस - दूध की मधुरता/मिठास/स्निग्घता/चिकनाई का कम-अधिक होना । गाय के दूध की अपेक्षा भैस के दूध मे स्निग्धता/मिठास कम होती है, बकरी के दूध मे और भी कम आदि ।

बन्धुओ, ये दूध के परिणाम हैं । गाय द्वारा खाद्य भोजन दूध रूप मे परिणत हुआ और दूध मे ये चार वस्तुएँ/तत्त्व पुन निर्मित हुए । इस प्रकार जड पदार्थ भी परिणमन शील होते हैं तो कर्म को परिणमनशील मानने मे क्या आपत्ति है ? फलत कर्म भी फल मे परिणत हो सकता है, होता है ।

आगम मे भी कर्म को परिणमन गुण वाला/परिणामी माना है । अग्निभूति जी ने कर्म के परिणामी होने मे शका करते हुए कहा था—"कर्म को मूर्त्त मानने मे यदि कुछ अन्य हेतु भी हैं तो बताएँ ।"

उत्तर मे श्रमण भगवान ने प्रतिपादित किया है कि, "कर्म मूर्त्त है, क्योंकि वह आत्मा आदि से भिन्न होने पर परिणामी है, जैसे कि दूध । आत्मादि भिन्न-रूप दूध परिणामी होने के कारण मूर्त्त है वैसे ही कर्म मूर्त्त है ।"

अग्निभूति - कर्म का परिणामी होना सिद्ध नहीं, अत. इस हेतु से कर्म मूर्त्त सिद्ध नहीं हो सकता ।

भगवान - कर्म परिणामी है, क्योंकि उसका कार्य शरीर आदि परिणामी है । जिसका कार्य परिणामी हो, वह स्वय भी परिणामी होता है । जैसे दूध का कार्य दही का परिणामी होने के कारण अर्थात् दही का छाछ-रूप परिणत होने के कारण उसका कारण-रूप दूध भी परिणामी है, वैसे ही कर्म के कार्य शरीर के परिणामी (विकारी) होने के कारण कर्म स्वय भी परिणामी हैं । अतः कर्म के परिणामी होने का हेतु असिद्ध नहीं ।"×

निष्कर्ष यह है कि कर्म परिणामी होने से फल के रूप मे परिणत होता है और जीव उसका/अपने गृहीत कर्म के फल का भोक्ता है ।

श्रीमद् ने भी लिखा है — "जहर और अमृत खुद यह समझते नहीं कि खाने वाले को मृत्यु, लम्वी आयुष्य होती है । किन्तु स्वभाव उसको ग्रहण करने वाले के प्रति/लिए परिणत करता है, उसी प्रकार जीव मे भी शुभाशुभ कर्म का परिणमन होता है/शुभाशुभ कर्म भी परिणमते हैं, और उसका फल सम्मुख होता है; इसी प्रकार जीव को कर्म का भोक्तृत्त्व/भोक्तापन जानना चाहिए । "

"जीव अस्तित्व " की चर्चा मे इन्द्रभूति जी गौतम को उनके प्रश्नों का उत्तर देते हुए श्रमण भगवान ने आत्मसाधक अनुमानों का प्रतिपादन करते हुए कहा— "देहादि का कोई

× गणधरवाद १६२८ गा

भोक्ता अर्थात् भोग करने वाला होना चाहिए, क्योकि वह भोग्य है, जैसे भोजन और वस्त्र भोग्य पदार्थो का भोक्ता पुरुष है । जिस का कोई भोक्ता नहीं होता वे खरविषाण के समान भोग्य भी नहीं होते । शरीरादि भोग्य हैं, अत. इनका भोक्ता होना चाहिए । जो भोक्ता है वह आत्मा है ।"

—"दोहादि का कोई अर्थी अथवा स्वामी है, क्योंकि देहादि सघात रूप हैं । जो सघात रूप होते हैं उनका कोई स्वामी होता है, जैसे घर सघात रूप है और पुरुष उसका स्वामी है । देहादि भी सघात रूप हैं अत उनका भी कोई स्वामी होना चाहिए । जो स्वामी है वही आत्मा है ।

फलत. निष्कर्ष यह हुआ कि आत्मा है और वह कर्त्ता है, भोक्ता है । "शरीर का कर्त्ता, भोक्ता अथवा स्वामी ईश्वर आदि अन्य कोई व्यक्ति नहीं हो सकता, क्योंकि यह युक्ति से विरुद्ध है । अतः जीव को ही उसका कर्त्ता-भोक्ता और स्वामी मानना चाहिए ।" तथापि यहॉ 'कर्म फल का भोक्ता' की चर्चा चल रही है अत उस पर समीचीन विचार करना है । कर्म क्या है, उसका फल कौन भोगता-भुगवाता है आदि पर विचार-चर्चा करने पर ही यह तथ्य समझ मे आ सकेगा ।

आज विज्ञान का युग है । इस युग मे भौतिक चमत्कार/आविष्कार अपनी चरम सीमा को छूने लगे हैं । इस युग के रोबेट/कप्यूटर/कीचन मशीन/अन्य स्वचालित मशीने आदि ये सब पौद्गलिक हैं पुद्गल-परिणाम हैं, जड हैं, भौतिक हैं । ये मनुष्य के करणीय कार्यो को स्फूर्ति से और अच्छे ढग से करते हैं । इनका प्रत्यक्षीकरण है, मानव निर्मित हैं / उपयोगी हैं इसलिए जन साधारण इन्हें सहज स्वीकार कर लेता है । किन्तु कर्म, उसके अदृष्ट फल को, कर्म-शक्ति को, फल-भोग को स्वय करता हुआ, भोगता हुआ, फल प्राप्त करता हुआ भी उसे स्वीकार नहीं करता । क्योकि वे अदृष्ट, अतीन्द्रिय हैं, सूक्ष्म हैं, इन्द्रियग्राह्य न होने से उसके अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करता । व्यक्ति 'प्रत्यक्ष' पर ही भोसा करने लगा है, अनुमान, आगम/

शास्त्रादि पर नहीं, यह उसकी प्रवृत्ति बन गई है । किन्तु उसे यह नहीं भूलना चाहिए कि जिसको उसने देखा-सुना या अनुभव नहीं किया है वह पदार्थ/तत्त्व ऐसा नहीं है अथवा उसका अस्तित्व ही नहीं है । अस्तित्व है और उसे समझने का अनुसन्धानीय प्रयास करना चाहिए ।

आधुनिक विज्ञान का आविष्कार किसने किया है ? इन वस्तुओं के निर्माण तथा तत्सम्बन्धी सामग्री के गुण-दोषों एव सघात-प्रतिसघात के तरीको, नियमो का विधान तथा उपयोग किसके लिए है और किसने किया ? उत्तर एक ही कि, मनुष्य की बुद्धि ने, उसकी मनीषा ने भौतिक पदार्थो के जर्रे-जर्रे/अणु-परमाणु का अन्वेषण कर, उसने धरती-आकाश और प्रकृति की छुपी हुई मॉद मे तत्त्वो को खोजकर दूढ कर मनुष्य के लिए उपयोगी साधनो का निर्माण किया है । ये सब जन्म से मृत्युपर्यत मनुष्यादि प्राणियों के जीवन-साधन बन गए । तत्त्व दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो ये सब उस मूर्त्त, सूक्ष्म-स्थूल पुद्गल के परिणाम ही हैं जो मनुष्य की मनीषा से सचालित/परणमित हो रहे हैं ।

आगम मे 'पुद्गल प्रयोग परिणाम' को दो प्रकार का कहा है—एक, 'विस्रसा', जो वस्तु/पदार्थ का स्वभाव से है । जैसे सर्दी-गर्मी आदि ऋतु-कालादि के निमित्त से निष्पन्न होती है । दूसरा प्रयोग परिणाम है, 'प्रायोगिक' । किसी प्रयत्न से प्रयोग से । जैसे शीत-उष्णता को अकाल मे किन्हीं साधन विशेषो से प्रयोग कर अनुभव करना । फलत विज्ञान सम्पूर्ण रूप से पुद्गल-परिणाम-प्रयोग है । वह स्वत. शक्ति रूप मे, विस्रसा रूप मे है, किन्तु मनुष्य की मनीषा/चेतना ने उसे प्रायोगिक बना दिया है और प्रयोग/व्यवहार मे आ रहा है ।

अब प्रश्न तो अतिन्द्रिय, अदृष्ट कर्म पर ठहरता है कि जो कर्म विस्रसा/स्वभाव से नही मनुष्यकृत /चेतना कृत है और उसका फल भी है । आगम मे 'कर्म' को विस्रसा नहीं प्रयोगसा ही कहा है ।* फिर उसका स्वीकार्य क्यो नहीं है

---

* भगवती सूत्र, देखे प्रवचन भा. ३/१२-२ वा

करने और भरने को /कर्त्ता-भोक्ता-सहर्त्ता मनुष्य स्वय न होकर अन्य माध्यम से करे-भरे-हरे यह बात गले नही उतरती । अत हमे वस्तु-गहराई मे उतरकर तथ्य और सत्य का अनुभव करना चाहिए ।

ससार के वैचित्र्य पर गभीरता से विचार करने के लिए गुरुदेव ने प्रेरणा दी है । उसका कोई कारण अवश्य है । क्योकि कारण के बिना कोई कार्य निष्पन्न नही होता । गुरुदेव 'भोक्तापन' को पुष्ट करते हुए कहते हैं —

"एक रक ने एक नृप, ए आदि जे भेद ।
कारण विना न कार्य ते, ए ज शुभाशुभ वेद्य॥८४॥"

"—एक रक/गरीब है, एक राजा है आदि ये जो भेद/विचित्रताएँ है - नीचता, उच्चता, कुरूपता, सुरूपता/सुन्दरता आदि हैं वे सबको समान नही है, 'यही शुभाशुभ कर्म का भोक्तृत्व है,' ये सिद्ध होता है, क्योकि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नही होती ।"

इस पद मे दो प्रकृति नियमो का उल्लेख किया है कि—

एक : कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता ।

दूसरा : मानव-मानव मे जो भेद है-कोई रक, कोई राजा, कोई साक्षर, कोई निरक्षर है, वह शुभ-अशुभ कृत कर्म के कारण ही फल भोग है ।

यहाँ इस पद मे कर्म-फल के भोग को उदाहरण द्वारा समझाया गया है कि, देखिए, ससार मे कोई रक है, कोई राजा है, आदि ये जो भेद हैं जब कि जीवत्व/जीवपना एक है, मनुष्यत्व/मनुष्यपना एक है तो 'सब को सुख या दुख भी समान होना चाहिए । किन्तु देखा जाता है भेद, वैचित्र्य-कहीं निम्नता है, कहीं उच्चता है, कहीं कोई सुरूपवान् है तो कुरूप है कोई । ये सब शुभ-अशुभ कर्म से ही उत्पन्न हुए वैभिन्नय है । क्योकि यह अनायास, तो है नहीं, बलात् भी

नहीं है, कोई न कोई कारण अवश्य है । क्यो ? विना कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती । रंकत्व कार्य है अन्तराय उसका कर्म-कारण है, राजत्व कार्य है पुण्य कर्म/साता वेदनीय का उदय, अन्तराय कर्म का क्षयोपशम कारण है । इस प्रकार शुभ-अशुभ कर्मफल-भोग देखा जाता है ।

समान पुरुषार्थ, प्रयत्नवाले दो व्यक्तियो मे एक सफलता प्राप्त करता है, दूसरा असफल रह जाता है, क्यो ? एक पिता के यहाँ दो पुत्रों का जन्म हुआ है —एक रोगी, दूसरा निरोग होता है । एक मनुष्य शान्तचित्त तो दूसरा भयकर क्रोधी, एक जितेन्द्रिय, दूसरी कामी-लम्पटी । एक घर मे जन्म लेने वालो मे विभिन्न विचित्रताएँ देखी जाती हैं कोई रूपवान तो कोई कुरूप, जवकि माता-पिता सुन्दर हैं । सदाचारी पुरुष के यहाँ दुराचारी, चोर आदि आदतो वाली सतान देखी जाती है । इसके विपरीत सदाचारी सन्तान दुर्जन माता-पिता को प्राप्त होती है । ऐसा क्यों ? इसका कारण पूर्व सचित कर्म का फल भोग ही है । जिसे सौभाग्य और दुर्भाग्य कहते हैं वही 'गुॅड लॅक और वैड लॅक' है । भाग्य भी क्या है, अपना पूर्वकृत कर्म ही तो है, जिसका सचय/सग्रह सस्कार और वासना के रूप मे भी है । पुरुषार्थ वर्तमान क्रिया है, भाग्य पुराकृत है, यही दोनों मे अन्तर है, बस!

इस कर्म फल-भोग, तकदीर-भाग्य के वारे मे एक पजावी कवि 'कसराज गोहर' अमृतसरी ने अति सुन्दर लिखा है —

"इकना दे घर वले न दीवा, इकना रोज दीवाली ।
इकना दे धन लक्खा रुलदा, इकना घोर कगाली ॥
इकना दी सत मजली कोठी, असमानी चडे चवारे ।
इकना दी ढई झुग्गी अन्दर, वाछड छाला मारे ॥
इकना दे लई मोटर-कारा, वग्धियॉ घुड असवारी ।
इकना दे लई रिक्शा वन गई, ओह वी खिचणहारी ॥
इकना दे घर सत-सत पुत्र, सत पुत्तिए अखवादे ।
इकना दे घर धी न होवे, तरस-तरस मर जादे ॥

इकना हत्थ छणकन चूडे, छनक-छनक पई होवे ।
इकना दे गल पया रडापा, माग जिन्हा दी रोवे ॥
इकना दी देह कचन वागू, मस्त जवानी झोले ।
इकना घेरया आन बिमारी, खग-खग के बोले ॥
इकना दा मुँह-चद चौदहवी, दूरो लिश्का मारे ।
इकना दा मुह तक-तक के, हर कोई फटकारे ॥
मूर्ख जाने राम दी माया/लीला, जो चाहे करवावे ।
पर एह गल्ल नहीं है सज्जनो, कर्मा दा फल पावे ॥
जैसी करनी वैसी भरनी, 'गौहर' एह समझावे ।
सुख दित्तिया सुख मिलदा एत्थे, दुख दित्तिया दुख पावे ॥"

इस प्रकार इन वैविध्य एव वैचित्र्य का कारण जीवात्मा का स्वकर्म-फल भोग ही है ईश्वर कृपा या अन्य कारण नहीं है। जीवात्मा स्वय कर्मफल भोगता है, कोई भुगतवाता नही है ।

गुरुदेव अब "कर्म फल के भोग के लिए/भोक्तृत्व के लिए किसी अन्य शक्ति की अपेक्षा नहीं है" का विधान करते हुए कहते है —,

"फलदाता ईश्वर तणी, एमां नथी जरूर ।
कर्म स्वभावे परिणमे, थाय भोग थी दूर ॥८५॥

"फलदाता ईश्वर की इस कर्म फल भोग मे/भोक्तृत्व मे कोई जरूरत नही है । जहर और अमृत की तरह कर्म अपने स्वभाव मे परिणमन होते है तथा भुक्त हो जाने के बाद/फल रहित होकर नि सत्व होने से जहर-अमृत फल देकर जिस प्रकार निवृत्त हो जाते हैं उसी प्रकार शुभाशुभ कर्म भी भोगने से शक्ति रहित होकर झड जाते हैं, दूर हो जाते है ।"

इस पद मे शिष्य की उस शका/जिज्ञासा का कि, **"फलदाता ईश्वर गण्ये, भोक्ता पणु सधाय"** का समाधान करते हुए तथा उसका निरसन करने के लिए तीन बातो का उल्लेख करते हैं — ।

एक : फल देने के लिए ईश्वर की जरूरत नहीं ।

दूसरी : शुभाशुभ कर्म फल-स्वभाव मे परिणमन होते है ।

तीसरी : फल-भोग के पश्चात् कर्म निर्जरित हो जाते है, झड जाते हैं ।

अव इन तीन वातो को तनिक स्पष्टता से समझ ले —

एक, "फलदाता ईश्वर तणी एमां नथी जरूर" कर्म का फल भुगतने के लिए/कृत कर्म के सुख-दुःख के अनुभव/सवेदन के लिए ईश्वर आदि किसी तीसरी शक्ति की जरूरत नहीं समझी गई . यह उस 'वेदान्त दर्शन' के नजरिए/दृष्टिकोण का निरसन है जिसने कर्म फल के लिए ईश्वर को कर्मफल का देने वाला माना है कि विना ईश्वर के कर्मफल नहीं प्राप्त किया जा सकता । विचारणीय है कि ईश्वर भी प्रत्यक्ष उपस्थित होकर कर्म फल नहीं देता, किसी के माध्यम से देता है ।

पूर्व मीमासा, साख्य दर्शन/जैन आदि कर्मफल के लिए उक्त वात स्वीकार नहीं करते । वे ईश्वर को शुद्ध आत्मा/परमात्मा, शुद्ध चैतन्य, निराकार-निरजन अक्रिय, नित्य मानते हैं फलत वह न जगत-सृजन के प्रपच मे पडता है और न ही किसी के फल/दण्डादि देने मे हस्तक्षेप करता है । वह केवल दृष्टा है, ज्ञाता है ।

कर्मफल जीव के स्वकृत कर्म से मिलता है । हॉ, इतना जरूर है कि कर्म अपना फल किसी न किसी निमित्त से देता है या भुगताता है । विना निमित्त के सुख-दुःख कैसे ? पूर्वकृत कर्म उसका उपादान है, वह जागृत होता है, उदय मे आता है तो उसके अनुसार कोई भी निमित्त/वाह्य कारण का सयोग हो ही जाता है । वह चेतन-जड, अपना-पराया, परिचित-अपरिचित, सूक्ष्म-स्थूल कोई भी हो सकता है । इतना अवश्य है कि अशुभ उपादान/सगृहीत कर्म से अशुभ और शुभ से शुभ निमित्त मिलते हैं । अर्थात् जैसा उपादान वैसा निमित्त । पिता को पुत्र, पुत्र को पिता, भाई को भाई,

बहिन को भाई, पति को पत्नि, गुरु को शिष्य तथा शिष्य को गुरु का शुभ, अशुभ निमित्त परस्पर सुख-दुख का कारण बन जाता है । और पशु-पक्षी तिर्यञ्च भी निमित्त बन जाते है । यहाँ तक कि अपना शरीर भी दुख का सुख का कारण/निमित्त बन जाता है । अर्थात् उसके माध्यम से सुख-दुख का अनुभव करता है । क्योकि शरीर उपलब्धि भी नामकर्म जन्य है । शरीर नामकर्म, अगोपाग नामकर्म, वर्ण नामकर्म, गध नामकर्म, रस नामकर्म, स्पर्श नाम कर्म, सघयन नामकर्म, सस्थान नामकर्म आदि पाप कर्म के उदय से अशुभ शरीरादि, पुण्य कर्मोदय से शुभ शरीरादि प्राप्त होता है ।

इस प्रकार अनुकूल सयोग प्राप्त होने पर सुख, प्रतिकूल होने पर दुख अनुभव करता है । इनकी/इन साधनो की प्राप्ति मे मूल कारण पूर्व सचित कर्म का उदय भाव है । एक कहावत भी है **"हिले रिजक, बहाने मौत"** कारण से कार्य होता है । कर्म भी पुद्गल है, इसमे अपनी शक्ति है, जैसे अग्नि मे उष्णता, जल मे शीतला आदि है । कर्म मे भी एक प्रकृति है स्वभाव है, उसमे 'मैगनैट पावर' की भाति आकर्षण शक्ति है जो शुभ को शुभ तथा अशुभ को अशुभ अपनी ओर आकर्षित कर लेती है । अर्थात् उपादान निमित्त को ढूढ ही लेता है । **' 'शक्कर खोरे को शक्कर खोरा पा ही लेता है ।"** जिस प्रकार मिट्टी का तैल, पैट्रोल, डीजल आदि मे अग्नितत्त्व व्याप्त है वह तनिक सी चिनगारी को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है, खींच लेता है । इसलिए ऐसे स्थानों पर लिखा होता है "धूम्रपान निषिद्ध है" — "नो स्मोकिग", यही कारण है । इसी प्रकार जड कर्म प्रकृति मे जीव के अध्यवसायो से एक विशेष शक्त्याकर्षण उत्पन्न हो जाता है — स्वभाव, स्थिति, परिमाण, तीव्र-मन्द रस रूप मे । इससे ही प्राणी जगत् अपने किये का फल प्राप्त करते हैं । इस प्रक्रिया मे ईश्वर की जरूरत ही नहीं पडती — **"एमा नथी जरूर ।"**

इसके विपरीत, जैनदर्शन कहता है कि, " जीव कर्म करने मे तो स्वतन्त्र रहता है, लेकिन उनके उदय आने पर फल

भोगने मे वह पराधीन हो जाता है । जैसे कोई व्यक्ति अपनी इच्छा से वृक्ष पर चढ तो जाता है किन्तु उतरते समय प्रमादवश/गिरते हुए परवश हो जाता है ।"

"कहीं जीव कर्म के अधीन होते हैं तो कहीं कर्म जीव के अधीन होते हैं । जिस प्रकार ऋण देते समय तो धनी वलवान् होता है तो कहीं लौटाते समय कर्जदार वलवान् होता है ।"**

(क्रमशः)

** वृहद्कल्प भाष्य २६८९-९० .कम्मवसा खलु जीवा ., कम्म चिणंति सवसा तस्सुदयम्मि उ परव्वसा होंति . ।

"झेर–सुधा..जीव खाय फल थाय" : समाधान (दो)

कर्मफल भोग के बारे मे चर्चा चल रही थी कि जीवात्मा/व्यक्ति कर्म का फल स्वय भोगता है, अनुभव करता है इसमे किसी तीसरी शक्ति के हस्तक्षेप की अपेक्षा ही नहीं है। तथापि कुछ मान्यताएँ हैं कि स्वय कर्म फल नहीं देता और जीव स्वय फल नहीं अनुभव करता। इसके लिए उसे किसी दण्डाधीश की जरूरत है। यहाँ उसका निराकरण किया है।

आगम और आगम बाह्य ग्रन्थो मे उल्लेख है अग्निभूति जी गौतम द्वारा 'कर्म–अस्तित्व' की चर्चा मे कहा गया था कि ईश्वर को मानने से सर्व कार्यो की सिद्धि हो जाती है, पृथक् रूप से कर्म आदि उसके फल–भोग आदि की जरूरत नहीं रहती। उन्होंने कहा—

अग्निभूति – यदि ईश्वर आदि को जगत् वैचित्र्य का कर्त्ता मान लिया जाय तो कर्म मानने की आवश्यकता नहीं रहती।

ईश्वर आदि कारण नहीं :

भगवान – यदि तुम कर्म को न मानकर मात्र शुद्ध जीव को ही देहादि वैचित्र्य का कर्त्ता स्वीकारो, अथवा ईश्वर से इस समस्त वैचित्र्य की रचना मानो, किवा अव्यक्त–प्रधान, काल, नियति, यदृच्छा (अकस्मात्) आदि इस वैचित्र्य की ससार मे उत्पत्ति मानो, तो तुम्हारी सब मान्यताएँ असगत होगी।

अग्निभूति – इनकी असगति का क्या कारण है ?

भगवान – यदि शुद्ध जीव अथवा ईश्वरादि को कर्म (साधन) की अपेक्षा नहीं है तो वह शरीर आदि का आरभ

नहीं कर सकता, क्योकि आवश्यक उपकरणो या साधनों का अभाव है, जैसे कि कुम्भकार दण्डादि उपकरणों के अभाव मे घटादि की उत्पत्ति नहीं कर सकता । शरीरादि के आरभ मे कर्म के अतिरिक्त अन्य किसी भी उपकरण की सभावना सिद्ध नहीं होती । कारण यह है कि यदि गर्भस्थ जीव कर्म-रहित हो तो वह शुक्र-शोणित भी ग्रहण नहीं कर सकता और उसके ग्रहण के विना देह निर्माण शक्य नहीं । अत· यह वात माननी पडती है कि जीव कर्म रूप उपकरण द्वारा ही देह का निर्माण करता है ।

दूसरा अनुमान यह हो सकता है — निष्कर्म जीव शरीरादि का आरभ नहीं कर सकता, क्योंकि यह निश्चेष्ट है। जो आकाश के समान निश्चेष्ट होता है वह शरीरादि का आरभ करने मे असमर्थ है । कर्म रहित जीव भी चेष्टा से हीन है अत वह शरीरादि का आरभ नहीं कर सकता । इसी प्रकार अमूर्त्त तत्त्व-रूप हेतु से इसी साध्य की सिद्धि की जा सकती है कि निष्कर्म जीव शरीर का आरभ करने मे समर्थ नहीं है । इसी साध्य की सिद्धि के लिए निष्क्रियता, सर्वगतता, अशरीरता आदि हेतु भी दिए जा सकते हैं । अर्थात् कर्म माने विना छुटकारा नहीं है ।

अग्निभूति - हमे यह मानना चाहिए कि शरीर वाला ईश्वर देहादि सभी कार्यो का कर्त्ता है, कर्म की मान्यता आवश्यक नहीं है ।

भगवान - तुमने सशरीर ईश्वर का प्रतिपादन किया है किन्तु इसी विषय मे मेरा प्रश्न है कि वह ईश्वर अपने शरीर की रचना सकर्म होकर करता है अथवा कर्म-रहित होकर ? कर्म-रहित होकर ईश्वर अपने शरीर की रचना नहीं कर सकता, क्योकि जीव के समान उसके पास भी उपकरणो का अभाव है । इसी प्रकार की अन्य उपर्युक्त युक्तिया दी जा सकती है । जिनसे यह बात सिद्ध होगी कि अकर्म ईश्वर की शरीर-रचना अशक्य है । यदि तुम यह कहो कि किसी दूसरे ईश्वर ने उसके शरीर की रचना की है तो फिर

यह प्रश्न उपस्थित होगा कि वह अन्य ईश्वर सशरीर है अथवा शरीर रहित ? यदि वह अशरीर है तो उपकरण रहित होने के कारण शरीर-रचना नहीं कर सकता। इस विषय मे ऐसे उपर्युक्त सभी दोष बाधक हैं और यदि ईश्वर के शरीर की रचना करने वाले किसी अन्य ईश्वर को तुम सशरीर मानते हो तो वह यदि अकर्म है, अपने शरीर की भी रचना नहीं कर सकेगा, तब दूसरे शरीर-रचना का प्रश्न तो उत्पन्न ही नहीं होगा । उसके शरीर की रचना के लिए यदि तीसरा ईश्वर माना जाय तो उसके सम्बन्ध मे भी पूर्वोक्त प्रश्न-परम्परा उत्पन्न होगी । इस प्रकार अनवस्था होगी। अत ईश्वर कर्म रहित मानने से उसके द्वारा देहादि की विचित्रता सभव नही है । यदि ईश्वर को कर्म सहित माना जाय तो फिर यही मानना युक्ति सगत होगा कि जीव ही सकर्म होने के कारण देहादि की रचना करता है ।

अपि च, यदि ईश्वर बिना किसी प्रयोजन के ही जीव के शरीर आदि की रचना करता है तो वह उन्मत्त के समान ही समझा जाय और यदि उसका कोई प्रयोजन है तो वह ईश्वर क्यो कहलाएगा ? वह तो अनीश्वर हो जायेगा । ईश्वर को अनादि शुद्ध मानने पर भी शरीर आदि की रचना सभव नहीं है । कारण यह है कि ईश्वर राग रहित है । राग के बिना इच्छा नहीं होती और इच्छा के अभाव मे रचना शक्य नही । अत देहादि की विचित्रता का कारण ईश्वर नहीं, अपितु सकर्म जीव है । इससे कर्म की सिद्धि हो जाती है ।"

दो : "कर्म स्वभावे परिणमे" कर्म अपने स्वभाव मे परिणमन होता है । प्रत्येक पदार्थ चाहे जड अथवा चेतन हो अपने-अपने स्वभाव मे परिणमन होते है । अत प्रकृति, पुद्गल सब परिणमी है, कूटस्थ मात्र नहीं है । कर्म भी परिणामी है वे अपने-अपने स्वभाव मे ज्ञानावरण ज्ञान के आवरण मे, दर्शनावरण दर्शन-रोध मे, वेदनीय सुख-दुख मे, मोह मत्त या मोहित करना/वस्तु मे बेभान करने मे, अन्तराय विघ्न-बाधा देने मे परिणमन होते रहते हैं ।

एक बात ध्यान मे अवश्य रखनी चाहिए कि लोक मे रहने वाली अनेक पुद्गल परमाणुओं की वर्गणाएँ/समूह हैं किन्तु सभी वर्गणा कर्मरूप मे परिणत नहीं होतीं । मात्र एक 'सूक्ष्म पुद्गल-परमाणु वर्गणा' है जो जीव के योग और कषाय की परिस्पदना से आत्म-प्रदेशों पर कर्म रूप मे स्थित होती है । जब जीव जिन भावों की/शुभ-अशुभ/ज्ञानावरण-दर्शनावरणादि की विचारणा, वाणी, प्रवृत्ति करता है उन भावों स्वभाव वाली कर्म प्रकृति का बन्ध हो जाता है, उन-उन स्वभावो वाले कर्म बन जाते हैं । क्योकि मूल मे वह वर्गणा निष्क्रिय है । दूध मे मधुरता के लिए, पानी मे सुगन्धी के लिए केवडा, गुलाब का अर्क डालकर मधुर और सुगन्धित कर लिया जाता है यह प्रायोगिक है । इसी प्रकार कार्मण वर्गणा मे भी उस विस्रसा/स्वभाव को प्रयोग से बदल लेता है । वह प्रयोग है योग और कषाय का । यह जैन दर्शन का कर्म विज्ञान है ।

तीन : "थाय भोग थी दूर" कर्म अपना फल देने के बाद निरस/निसत्व, शक्तिहीन हो निर्जरित हो जाते हैं, आत्मप्रदेशो से दूर हो जाते हैं, झड जाते हैं । यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि जीव के काषायिक परिणामो/अध्यवसायों के कारण स्निग्धता उत्पन्न होती है । जो आत्म प्रदेशो पर कर्माणुओं को स्थित कर देती है । जब उस कर्म का उदय काल/फल देने का समय आता है तो वह फल देता है, उस समय वह अपने तीव्र-मन्द रस जैसा अध्यवसायो के स्पन्दन से बाँधा हुआ है, भुगतता है, रस मुक्त होने पर वह कर्म प्रकृति रूक्ष हो जाती है और निर्जरित हो जाती है, फलत· दूर हो जाती है ।

कर्म वाद मे निर्जरा के कुछ सामान्य-विशेष प्रक्रिया के प्रावधान भी विशिष्ट ज्ञानी पुरुषों/सर्वज्ञो ने प्रस्तुत किए हैं —

१. बिना उदय या उदीरणा के (अर्थात् सहज, यथाकाल मे फल देने कर्म का जागृत होना, उदय है बलात् उदय मे लाना, तपादि के माध्यम से उदीरणा है) के निर्जरा नहीं होती । इसे आभ्युपगमिक/स्वेच्छा से,

औपक्रमिक/कर्मोदय के कारण वेदना और निर्जरा होती है, कहते हैं ।

२. उदय मे आने के बाद वही प्रकृति पुन· उसी समय मे 'सत्ता' मे नहीं आती, उसकी निर्जरा अवश्यभावी है ।

३. निर्जरा आशिक और सर्व भेद से दो प्ररकार की है। आशिक समय-समय पर होती रहती है । सर्व निर्जरा किसी एक, दो, तीन, चार कर्मो की, किवा सर्वकर्मो की जिससे जीव मुक्त होता है । निर्जरा और मोक्ष मे यही अन्तर है । कर्मो का आशिक रूप मे दूर होना कर्म-निर्जरा और सर्व रूप निर्जरण होना/अलग होना, कर्म-मोक्ष है ।

५. निर्जरा के लिए आगम मे कुछ प्रश्न-उत्तर भी उपलब्ध होते हैं —

अ भन्ते ! उदित की निर्जरा होती है या अनुदित की ?

गौतम! उदित की होती है अनुदित की नहीं होती ।

आ. भन्ते ! क्या जीव स्वय कृत दु:ख भोगता है ?*

गौतम! कुछ भोगता है, कुछ नहीं भोगता । अर्थात् उदीर्ण/उदय मे आए को भोगता है । इसी प्रकार निर्जरा करता है ।

निष्कर्ष : "जैसे पके हुए फल के वृक्ष से गिरने पर वह फल पुन डठल से नहीं जुडता, उसी प्रकार जीव के पुद्गल कर्मो की निर्जरा होने पर पुन· वे उदय को प्राप्त नही होते । पुन वे जीव के साथ नहीं बधते ।"×

गुरुदेव शिष्य को कर्म-फल-भोग/भोक्तृत्व का ज्ञान कराते हुए कहते हैं कि, 'जीव/आत्मा द्वारा गृहित कर्म का फलानुभाव/वेदन उन-उन परिणामो और योगो की तीव्र-मन्द

---

* भग १/२/६४

× मूला १६८

प्रवृत्ति से परिणमन हुए कर्म पुद्गलों द्वारा होता है ।' गुरुदेव कहते हैं —

"ते ते भोग्य विशेष नां, स्थानक द्रव्य स्वभाव ।
गहन बात छे शिष्य आ, कही सक्षेपे साव ॥८६॥"

"—अर्थात् वे-वे भोग्य विशेष के स्थान/कारण और प्रकार एव अन्य अर्थ मे क्षेत्र हैं । कौन से ? क्या भोग्य विशेष हैं ? कर्म पुद्गल, जो जीव द्वारा गृहीत हैं, उत्कृष्ट शुभ, उत्कृष्ट अशुभ तथा मध्यम /मिश्र अध्यवसाय । ऊर्ध्वगति/ देवलोकादि, अधोगति/नरक लोक, मध्यगति/मनुष्य लोक-मनुष्य-तिर्यञ्चादि क्षेत्र, ये भोग्य विशेष स्थानक हैं । इनमे देव नारक मनुष्य तिर्यच शरीर धारण कर कर्म-फल भोगते हैं, यह कर्म पुद्गल द्रव्य का तथा इन क्षेत्रों का विशेष स्वभाव है ।" इसमे सन्देह की सभावना नहीं है ।

गुरुदेव शिष्य को उन-उन भोग्य विशेषों/कर्म फलों का जो तीव्रतम शुभ-अशुभ, तीव्रतर, तीव्र अथवा जघन्य, मध्यम-उत्कृष्ट अध्यवसाय जीव के परिणामो/अध्यवसायो से वन्धे हैं और उन्हें भोगने के लिए भी " भोग्य-विशेष " जहॉ सुख-दु ख का रूप भी तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र हो ऐसे स्थान निमित्त/क्षेत्रादि का प्राप्त होना या फल प्राप्त करना/देना एव कर्मपुद्गल द्रव्य का स्वभाव विशेष है, वताना चाहते हैं ।

यहॉ दो वातों की ओर ध्यान देना आवशयक है — **एक**-भोग्यविशेष स्थानक और **दो**-द्रव्य स्वभाव ।

"भोग्यविशेष " ' भोग्य ' का सामान्य अर्थ है भोगने योग्य, अनुभव-सवेदन योग्य । ' विशेष ' से अभिप्राय है मात्र सामान्य नहीं, मध्म, उत्कृष्ट, सह परिणामत. अर्थ है । जीव के (कृत) कर्म जो उसने अपने यथा अध्यवसायों से बाधे हैं । ये अध्यवसाय अनत हैं तथापि इन्हें उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य रूप से विभादित किया है । तथा उन-उन स्थानो/क्षेत्रो मे ऊर्ध्व-मध्य, अधो किवा देवलोक, मनुष्य लोक, नरक लोक मे सुख-दुःख, क्षेत्र, स्वभाव, शरीर वेदना, उपधि के माध्यम से

उन-उन रूप मे अनुभव करते है, स्वय कर्म पुद्गल के उत्कृष्टादि परिणमन से स्वय अनुभव करते हैं । यहाँ किसी ईश्वरादि की प्रेरणादि की अपेक्षा नहीं है ।

"**द्रव्य स्वभाव**" — जीव और पुद्गल दोनो द्रव्य है। **"गुण-पर्यायवद्द्रव्यम्"** के अनुसार दोनो अपने गुण और पर्याय - चेतना/ज्ञान/सवेदन तथा जड, अचेतन सवेदना रहित आदि, मे परिणमन शील रहते है । इन दोनो का अनादिकालीन कर्म-शरीर परम्परा/सतति से सम्बन्ध है, अत जीव स्व-अध्यवसायो से सक्रिय होकर पुन पुन कर्म और उसके फल का अनुभव करता रहता है । इस प्रक्रिया मे जीव और कर्म वर्गणा मे स्पन्दन, परिणमन होना आदि, "द्रव्य का स्वभाव" माना जाता है । भले ही विकार रूप से हो या विशेष स्वभाव से । कर्म पुद्गल-वर्गणओ का ज्ञानावरण आदि स्वभाव रूप कर्म और उसके फल भोग मे परिणत होना तथा जीव का गृहीत कर्म का फल भोगना, ये दोनो कर्म-सतति के कारण ही तो हैं । यही इन दोनो द्रव्यो का औपधिक स्वभाव है ।

एक अन्य दृष्टिकोण प्रस्तुत करना चाहते है गुरुदेव, भले ही यहाँ शिष्य द्वारा जिज्ञासा नही हुई तथापि उसका समझना अनिवार्य है ।

एक : ऊर्ध्व गति, अधोगति, मध्य या तिर्यक् गति के क्रमश उत्कृष्ट शुभ, अशुभ तथा शुभाशुभ परिणाम/अध्यवसाय रूप के गति परिणाम है, मूलत अध्यवसाय ही ऊर्ध्वादि गति रूप है और देव, नारक, मनुष्य, तिर्यच रूप बनकर फल भोगते हैं । इन ऊर्ध्व आदि गति मे जाकर फल भोगने का रूप यानि आत्मा को ले जाने वाला तत्त्व कोई ईश्वर/देवादि माध्यम चाहिए । बिना इनके आत्मा इन गतियो मे कैसे जा सकता है, इसको समझने की जरूरत है । भोक्ता अर्थात् कर्मफल भोग के लिए ले जाने वाला तो चाहिए न ?

सर्व प्रथम यह बात ध्यान मे लेनी चाहिए कि यह लोक जीव और अजीव/जड पुद्गल रूप है । यह षडद्रव्यात्मक है — धर्म द्रव्य अधर्म द्रव्य, आकाश, काल, जीव और

पुद्गल । इनमे जीव चेतना लक्षण वाला है, उपयोग गुण वाला है । शेष द्रव्य अचेतन/जड हैं । किन्तु अपने-अपने गुण-धर्म वाले हैं ।

धर्म द्रव्य — अमूर्त्त है, व्याप्त है, लोकवर्ती है, चलन गुण सहायक है — जीव और पुद्गल की गति मे / चलने मे सहायक है । जैसे पानी मछली के तैरने मे सहायक है ।

धर्म द्रव्य के कारण ही हमारी/जीव की गति-विधि है । प्रत्येक स्पन्दना/गति की इच्छा/अपेक्षा तो जीव को अपनी स्फुरणा है किन्तु गति क्रिया मे यह सहायक है ।

अधर्म द्रव्य : जीव और पुद्गल के स्थिर होने, ठहरने मे सहयोगी द्रव्य । जैसे वृक्ष की छाया आतप से तप्त/ग्रीष्म-आहत यात्री के लिए ठहरने मे सहायक होती है ।

इन दोनो द्रव्यो के अभाव मे जीव और पुद्गल-परमाणु गति-स्थिति युक्त नहीं हो सकते । एक के सद्भाव और अभाव मे भी जीव और जड का क्रियाशील और स्थितिशील रूप नहीं रह सकता । फलत. दोनों का अस्तित्व है । यह द्रव्य भी अमूर्त है, लोकवर्ति है, शाश्वत है ।

आकाश द्रव्य : पोलार, खला, शून्य/स्पेस । जीव और पुद्गल के गति का स्थान । प्रत्येक पदार्थ की गति-स्थिति मे अवकाश रूप कार्य वाला द्रव्य । अवगाहन लक्षण वाला आकाश द्रव्य है । दूध मे बताशा की भॉति स्थान देना स्वभाव है । अन्य द्रव्यो का आधार है । स्वय स्व-प्रतिष्ठित है, निराधार है । शेष इसके आधार पर हैं । अमूर्त, लोकालोकवर्ति है, शाश्वत है ।

काल : समय आदि विभाग रूप । दिन-रात, पक्ष-मास, वर्ष आदि । ये सब काल के व्यवहारिक विभाग हैं, बुद्धि कल्पित हैं । क्योकि काल तो एक अखण्ड द्रव्य है । यह वर्त्तना लक्षण वाला द्रव्य है । वस्तु के परिवर्तन मे/बदलने मे नई से पुरानी, पुन नवीन आदि होने मे निमित्त । जैसे कैची कपडे के स्वरूप को बदल देती है । प्रत्येक द्रव्य

अपनी-अपनी पर्याय मे परिवर्तित होते हैं, बदलते हैं किन्तु काल उनका सहकारी निमित्त है ।

इस प्रकार ये पॉच द्रव्य और छहवॉ जीव लोकवर्ती है, आकाश लोकालोकवर्ती है । जीव और पुद्गल की गति लोक मे है क्योकि धर्म, अधर्म द्रव्य लोक मे है । उनके बिना गति-स्थिति सभव नहीं । यह लोक का स्वरूप है । जीव और पुद्गल के परिणामों मे 'गति परिणाम' भी है । अत जब तक जीव मुक्त नहीं होता तब तक चार गति मे गमन करता ही रहता है, किन्तु प्रश्न यही है कि उसकी 'गति' मे सहायक कौन है ? वही जीव की गत्यात्मक शक्ति, जो कर्म-परमाणुओ के ग्रहण से, कार्मण एव तैजस शरीर, विहायोगतिनाम कर्म के कारण से प्रयोगवति होती है उसी के बल पर सर्व दिशाओ मे गमन करता है । इसी प्रकार पुद्गल भी अपनी गतिपरिणाम शक्ति जो उसका स्वभाव विशेष है, से गतिमान है ।

मूलत लोक का अस्तित्व ही जीव और पुद्गल के आधार पर है । ऊर्ध्व, अधो, मध्य लोक ये सब पुद्गलमय हैं— पुद्गल परिणाम है । मात्र जीव चेतन है । जो अपनी चेतना से कृत कर्म के आधार पर क्रीडारत है । यहीं वैचित्र्य का जन्म है, इसका वैविध्य है । इसीलिए जैन दर्शन, सॉख्य, वैशेषिक आदि ने लोक को नित्य/शाश्वत/अनादि माना है । अनादि एव नित्य शाश्वत के दश कारण जैन दर्शन ने दिए हैं । अत लोक का कोई सर्जा नहीं, न कर्त्ता है,न सहर्त्ता है । लोक अनादि और अनत है जिसका कभी विनाश नहीं है ।**

लोक-स्थिति दश प्रकार की है —

१. **पुनर्जन्म** - जीव मर-मरकर बार-बार लोक मे ही उत्पन्न होते हैं ।

२. **कर्म बंध** - जीव सदा पाप कर्म करते है ।

** "तत्त ते ण विजाणति, ण विणासी कयाइवि - सूत्र१/१/३/९

३. **मोहनीय कर्म बन्ध** - जीव सदा मोहनीय कर्म का बन्ध करते हैं ।

४. **जीव-अजीव का अत्यन्ताभाव** - तीन काल मे जीव, अजीव नहीं होते और अजीव; जीव नहीं होते इसलिए अभाव नहीं होता ।

५. **त्रस-स्थावर-अविच्छेद** - तीन काल मे त्रस प्राणी और स्थावर प्राणियों का विच्छेद नहीं होता ।

६. **तीन काल में लोक; अलोक नहीं होता है, और अलोक; लोक नही होता है ।**

७. **तीन काल मे लोक; अलोक मे प्रविष्ट नहीं होता और अलोक लोक मे प्रविष्ट नही होता ।**

८. **जहाँ तक लोक है वहाँ तक जीव है, और जहाँ तक जीव है वहाँ तक लोक है ।**

९. **लोक-मर्यादा** - जहॉ तक जीवो और पुद्गलों की गति है, वहॉ तक लोक है, जहॉ तक लोक है वहॉ तक जीवो और पुद्गलो की गति है ।

१०. **लोकान्त मे सर्वत्र रूक्ष पुद्गल हैं अतः जीव और पुद्गल लोकान्त के बाहर गति नहीं कर सकते ।*****

ये दश अवस्थाऍ लोक के अस्तित्व को बनाए रखने मे सक्षम हैं । किन्तु इन जीव, पुद्गल से अवस्थित लोक का आधार-आधेय सम्बन्ध से लोक व्यवस्था का ज्ञान होना भी आवश्यक है । इससे दो लाभ होगे — एक, लोक का स्वरूप ज्ञान तथा जीव, पुद्गल की शक्ति-सामर्थ्य का चिन्तन । दूसरा, लोक एव जीव के कर्मफल के भोग के लिए किसी अन्य शक्ति को मानने की अनपेक्षा ।

*** स्था १०/१(७०४ सूत्र)

आगम मे लोकस्थिति के बारे मे गणधर इन्द्रभूति जी गौतम द्वारा किए प्रश्न के उत्तर मे श्रमण भगवान का उत्तर-प्रवचन मिलता है —

"गौतम ! यह लोक स्थिति आठ प्रकार की है पृथ्वी के नीचे आकाश है, आकाश स्व-प्रतिष्ठित है । आकाश पर वायु है । वायु दो प्रकार की है — घनवात, तनुवात । आकाश पर पहले तनुवात है । फिर उसके ऊपर घनवात है। (हल्की हवा-भारी हवा) घनवात पर घनोदधि जमा हुआ पानी/हिम जैसा है । उस पानी पर पृथ्वी ठहरी हुई है । पृथ्वी के आश्रित त्रस और स्थावर जीव रहे हुए हैं । जीवो के आधार पर अजीव, कर्म के आधार पर जीव है । अजीवों ने जीवो को सग्रह किया हुआ है ।

यह लोक व्यवस्था, लोकावस्थिति आठ प्रकार की हैं —

१ आकाश प्रतिष्ठित वायु ;

२. वायु प्रतिष्ठित उदधि ;

३. उदधि प्रतिष्ठित पृथ्वी ;

४ पृथ्वी प्रतिष्ठित त्रस-स्थावर ,

५. अजीव जीव प्रतिष्ठित है ,

६. जीव कर्म प्रतिष्ठित है ,

७ अजीव जीव सग्रहीत/बद्ध है ,

८. जीव कर्म सगृहीत/बद्ध है ।×

गणधर गौतम स्वामी जी ने पुन जिज्ञासा की इस आठ प्रकार की स्थिति के बारे मे उत्तर मे प्रभु श्रमण भगवान ने उदाहरण से समझाया कि —

हे गौतम । जैसे कोई पुरुष चमडे की मशक को वायु से भरे फिर उसका मुह बन्द कर देवे और मशक के बीच मे एक रस्सी/रज्जु बॉध कर दो भाग कर देवे मशक की हवा

× भगवती १/६/२२४-२२५, स्था ८/६00 सूत्र

को, फिर ऊपर का बधन खोल कर, हवा निकलने पर उसमे पानी भर दे, फिर बीच की रस्सी भी खोल दे । ऐसा करने पर एक ही मशक मे हवा और पानी दोनो आधे-आधे भाग मे रहेंगे । हवा के आधार पर आधे भाग मे पानी रहेगा । हालांकि हवा सूक्ष्म है, पानी उससे स्थूल है फिर भी हवा के आधार पर पानी ठहरता ही है । अथवा एक और उदाहरण से समझे—

जैसे कोई पुरुष चमडे की मशक को हवा से भरकर अपने कमर के बॉध ले । फिर वह पुरुष अथाह दुस्तर पानी मे प्रवेश करने पर भी मशक पर रहेगा, समुद्रादि मे डूबेगा नहीं । मशक मे रही वायु सूक्ष्म है तथापि मनुष्य का भार वहन करती है । जैसे इसमे सन्देह को अवकाश नहीं, इस प्रकार आठ प्रकार की लोक स्थिति मे भी सन्देह करने का कोई कारण नहीं है ।

बन्धुओ, इस लोक का आधार-आधेय/सम्बन्ध तथा लोक की शाश्वतता/नित्यता का उल्लेख ज्ञानियो ने जीव और पुद्गल/प्रकृति के आधार पर निर्भर किया है । इसी शाश्वत तत्त्व के आधार पर जीवात्मा और पुद्गल की अचिन्त्य शक्ति-सामर्थ्य/विशेष स्वभाव, गुण, धर्म के कारण अपने कर्म करने और कर्म-फल को भोगने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान, एक गति से दूसरी गति, एक लोक से दूसरे लोक मे आवागमन करता है, तथा यदा-कदा कर्म फल भुगत कर, सर्वथा अबन्ध होकर, मुक्त होकर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है ।

प्रश्न — यहीं खडा है कि, ईश्वरादि किसी शक्ति को स्वीकार किए बिना कर्म युक्त एव मुक्त जीव को कौन गति कराता है, ले जाता है ? इसका क्या समाधान है ?

उत्तर — आत्मा स्वभावत ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला है । लोक मे कुछ पदार्थ-धूआ/तूम्र/एरण्ड बीज/अग्नि आदि ये ऊर्ध्वगामी हैं । इसी प्रकार आत्मा ऊर्ध्वगमन धर्म वाला है । मुक्तात्मा तो ऊर्ध्वारोहण स्वभाव से, नि सगता से, आसक्ति

बन्धन के छूटने से, पूर्व प्रयोगगति से, शरीर को सर्वदेश से स्पर्श कर, स्पन्दन से, धनुष से घूटे बाण की तरह, धुँए की, मटर-एरण्ड के बीज की तरह उत्पन्न वेग से ऊर्ध्व लोक/लोकाग्र मे पहुँच जाता है ।*

—कर्म युक्त जीव की गति ऊर्ध्व के साथ मध्य/तिर्यक् तथा अधोलोक मे भी तो है । अपने कर्मफल भोगने के लिए । तो वह किस प्रकार जाता है ?

हॉ, इसे तनिक गभीरता से सुनने का प्रयास करें, समझने के लिए एकाग्र मन करना अनिवार्य है ।

कर्म सतति और जीव का अनादि सम्बन्ध होने के कारण राग-द्वेष परिणाम और योग सह होने से जीव सक्रिय है, कर्म का कर्त्ता है । फलत· जीव का एक विशेष गुण है, द्रव्य का स्वभाव है "अगुरू"-"लघु", अर्थात् न हल्का न भारी। वह लोहे की भॉति भारी/गुरु तथा अर्कतूल/आक की रुई की तरह लघु - 'हल्का' नहीं है, अलघुऽगुरुत्व गुणी है। कर्म धूलि के कारण, कर्मवर्गणा से सकिलन्न होकर यह 'गुरुत्व दशा' को प्राप्त होता है, भारी हो जाता है । क्योकि पूर्व कार्मण वर्गणा जो आत्म प्रदेशो पर स्थित है उसके कारण भी। जितने-जितने तीव्र परिणाम/अध्यवसाय और योगों की प्रवृत्ति होती है उतने-उतने कर्म-प्रदेशबन्ध अधिक मात्रा मे होती है, उसी से जीवन गुरुकर्मी कहलाता है। योग और परिणामो की मन्दता से अल्प-कर्मपरमाणुओं का आत्म-प्रदेशों पर बन्ध होता है । ऐसे बन्ध वाला जीव लघुकर्मी कहलाता है ।

निष्कर्ष यह है कि, जीव कर्म से ही भारी और हल्का होता है । हल्का जीव ऊर्ध्व गति की ओर गमन करता है,

---

* "लाउ य एरण्ड फले अग्गी य इसु धणुविमुक्को ।
गई पुव्वपओण एव सिद्धाण वि गई उ ॥"—आव नि.९५७
(अ) भग १/१/४७-४८

भारी जीव अधोलोक/नीचे की ओर गमन करता है तथा कुछ हल्काभारी/मध्यम स्थिति वाला तिर्यक् लोक मे गमन करता है।

राजकुमारी जयन्ति के प्रश्नोत्तरो मे भी 'गुरुत्व', 'लघुत्व' के दो प्रश्न हैं । उत्तर मे श्रमण भगवान ने कहा कि, — जयन्ति। प्राणातिपात/प्राणी के प्राणों का अतिपात – नाश करने, उसकी हिसा करने से, मृषावाद आदि अठारह पापो के सेवन से यह जीव गुरुत्व को प्राप्त होते हैं और प्राणातिपात आदि के असेवन से जीव लघुत्व को/हल्केपन को प्राप्त होते हैं ।

एक दृष्टान्त द्वारा श्रमण भगवान ने स्पष्ट किया है — । एक तूम्बा, जिसका स्वभाव तो हल्का और ऊर्ध्वगमन है, किन्तु उस तुम्बे पर कोई व्यक्ति मिट्टी और कपडे का अथवा कुश और डाभ का लेप लगा दे तो वह तनिक भारी हो जाता है, क्रमश दो–तीन–चार यावत् आठ लेप लिप्त हो जाय तो वह गुरुतर स्थिति वाला होता जाता है और पानी की सतह से तल मे डूब जायेगा । तथा वही तूम्वा जव क्रमश एक–एक लेप उतरने पर हल्का होता है तो पुन तल से ऊपर उठता हुआ पानी की सतह पर तैरने लगता है । उसी प्रकार यह आत्मा कर्म–लेप से लिप्त होता हुआ, भारी होकर अधो लोक मे, कुछ हल्का हुआ तो मध्यलोक मे, विशेष हल्का हुआ तो ऊर्ध्व/देवलोक मे गमन करता है ।** और सर्वथा निर्लेप हुआ लोकाग्र मे स्थित हो जाता है ।

इस प्रकार चार गतियों मे कर्म फल–भोग के लिए जीव का अपना सामर्थ्य–शक्ति, गति परिणाम, प्रयत्न तथा कर्म एव पुद्गल निमित्त मे शुभ–अशुभ विहायोगति, नरकादि गति–नामकर्म, पूर्व प्रयोग, वीर्यान्तराय – क्षयोपशम तथा कार्मण शरीर एव धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाशादि तथा काल द्रव्य प्रमुख सहकारी निमित्त हैं ।

** जयति के प्रश्न –उत्तर । भगवती सूत्र, १२/२/१ प्र उ

धरती पर प्रचलित किवदन्तिया, मान्यताएँ जीवात्मा के जन्म और मरण के विषय मे बडी अद्‌भुत हैं, विचित्र है । वे मात्र आस्था, मान्यता का रूप है, किन्तु वे सिद्धान्त रूप से युक्ति और तर्क सगत नही ।

सनातन धर्म/पौराणिक मान्यता मे यमराज के दूत ही जीवात्मा को स्वर्ग-नर्क मे ले जाते है । इस्लाम मे ये काम फरिश्ते करते है ।

जैनदर्शन, बौद्ध दर्शन कर्मफल के लिए इतस्तत जीवात्मा का परिभ्रमण किसी अन्य शक्ति द्वारा नही अपितु स्वय उपार्जित कर्म एव अर्जित प्रयत्न लोक-शक्ति के निमित्त से मानता है । यह वैज्ञानिक है, सत्य और तथ्य के निकट है ।

इस प्रकार गुरुदेव ने जीव के "भोग्य विशेष-स्थान," और "द्रव्य के स्वभाव" का विश्लेषण करते हुए कहा कि, **"गहन बात छे शिष्य आ, कही सक्षेपे साव"—**

"हे शिष्य । यह जीव, कर्म, ससार, मोक्ष, गति-आगति आदि इनके स्वरूप-ज्ञान का होना सहज बात नहीं है, यह गहन/गहरी रहस्यमय है । मैने सक्षेप मे सब बातो का कथन किया है ।"

बस, आज इतना ही।

अन्तिममगल : अरिहंत मगल...! चत्तारि मगल...!

बुधवार
२८ सितम्बर '८८

गुलाबसदन
१९ बर्टन रोड, बोलाराम-१०
सिकन्द्राबाद

● जपले-जपले वीर. ।

जपले-जपले वीर प्यारा, सबका यही है सहारा ।।
पापों को तूने दिल मे बसाया, जीवन अपना व्यर्थ गवाया।
बदियो का सिर पर है बोझ भारा ।। सबका .
माया तो तूने खूब ही जोडी, बैठा है चढ़ तू मान की घोडी।
जीवन की बाजी को है, तूने हारा ।। सबका यही. .
भीम से योद्धा, रावण से मानी, गए यहाँ से न है निशानी।
ऐसा ही होगा हाल तुम्हारा ।। सबका. ..

● आई-आई रात सुहानी. .

● ओ मुसाफिर ..।

ओ मुसाफिर सुनते जाना, तेरा ठिकाना यहाँ नहीं ।।
तेरी जवानी की कहानी का करूँ कैसे बयाँ?
रेत की दीवार पर है, एक मिट्टी का मकाँ।
फिर भी तू इस पर दीवाना ।। तेरा.. .

यह स्वप्न जगत सारा, है नजर के सामने।
इस स्वप्न को तू हकीकत, क्यो लगा है मानने।
समझ ले अपना फिसाना ।। तेरा....

बॉधकर अपनी कमर को, हो खडा कर्तव्य पर।
क्यो पड़ा चिल्ला रहा है, तूँ अरे भवितव्य पर।
छोड.दे करना बहाना ।। तेरा .

देख यह ममता के धागे, है तुझे पकडे हुए।
कर्म बैरी हर तरफ से, है तुझे जकड़े हुए।
तोड इनको हो रवाना ।। तेरा .

● ओ बसन्ती पवन .।

● तेरी जिन्दडी

तेरी जिन्दड़ी चार दिनां दी ए, जरा मिठड़ी बोली बोल,
प्रेम रस घोल।
इंसाफ दी तकडी फडके तू, सत्त धर्म दा सौदा तोल।
प्रेम रस घोल ।।

मकर बनाना काहदे लई, कहर कमाना काहदे लई।
मजलूमां दी गरदन उत्ते, छुरिया चलाना काहदे लई।
रख याद कमाई पापां दी, नही रहणी तेरी कोल ।। प्रेम रस....

जो भी यहाँ पर आ जांदा, आखिर इकदिन टुर जांदा।
वांग बुलबुले मिट जादा ते, वाग बताशे खुर जांदा।
एस जग सरा च बजा गये ने, सब अपने-अपने ढोल ।। प्रेम रस...

पाप च घुलया फिरदा ए, भुलिया-भुलिया फिरदा ए।
इस दुनिया दे रंग रूप ते, डुलिया-डुलिया फिरदा ए।
तैनु लुटिया विषय विकारां ने, जरा ज्ञान दे नेत्तर खोल ।। प्रेम रस.

एहो जेहा सुन्दर चोला ए, मिलना सज्जनां ओखा ए।
चौरासी दे बाग च एह फुल्ल, खिड़ना सज्जना औखा ए।
कर कदर कमल एस फुल्ल दी तू, क्यों फिरदा ड़ावांड़ोल।। प्रेम रस. ..

● तेरी प्यारी २ सूरत को....।

● हम तो उन सन्तो. ..।

हम तो उन्ही सन्तों के है दास, जिन्होंने मन मार लिया ।।

मन मारा और तन वश कीना, किया भ्रम सब दूर।
बाहर से वो दीसे नाहीं, भीतर चमके वाके नूर ।। जिन्होने....

काम क्रोध मद लोभ तजी ने, मेटी जग की त्रास।
बलिहारी उन सतन की जो, प्रगट भये परकाज ।। जिन्होने....

आपा मार जगत मे बैठे, नहीं किसी से काम।
उनमे तो कछु अन्तर नाहीं, साधु कहो चाहे राम ।। जिन्होने....

रूखा सूखा भोजन खायें, षड्रस व्यञ्जन त्याग।
नव बाड़ ब्रह्मचर्य पाले, सोई कहे वैराग ।। जिन्होंने....

स्याद्वाद वाणी बरसावें, नही झगड़े का काम।
तीर्थकर के मार्ग चाले, साधु कहो वीतराग ।। जिन्होंने....

आध्यात्मिक है जीवन जिनका, आत्मशुद्धि का ज्ञान।
प्रपंचो से दूर रहे रे, निशदिन हृदय मांही ध्यान ।। जिन्होंने....

पंचमहाव्रत पाले स्वामी, सम दृष्टि गुणवान।
ऐसे गुरु को दर्शन माधव, पाये पद निर्वाण ।। जिन्होंने....

● अब के बचाले मेरी ..।

● टेढ़िया ने गलिया . ।

प्रभु दे प्यार दियां टेडियां ने गलियां,
टल वी न खडके जित्थे, वजदी न टल्लिया ।।

प्रभु तेरे राह विच बने कई दिवाने,
बजदे ने भक्ता नू दुनियां दे ताने
सच्च दी शमा ते सड़ जांदे परवाने,
तेरे प्रभु प्यारे गल्लां करन अवल्लियां ।। ..

जिन्हानू लगन तेरे प्यार वाली लगदी,
ओह लकीर टप जांदे मोह भरे जग दी,
ततिया लोआ नही ठण्डी हवा वगदी,
कंचन काया लक्खां मिट्टी विच रलियां ।।...

करदा कर्म कोई चाड गूड़े रग नू,
चाडदा ए कोई-कोई प्यार दी पतंग नूं,
'दास दिवाना' आखे कर सत्संग नूं,
सता दी वाणी जिवे मिसरी दी डलियां।।...

● तेरे प्यार का आसरा ...।

● मन्त्र श्रीनवकार . ।

मन्त्र श्री नवकार संकट दूर हरे।
करे जो इसका जाप चिन्ता दूर करे ।।

जब सेठ सुदर्शन ध्याया, सूली को तख्त बनाया,
यह शास्त्रो में है आया, ऋषि मुनियो ने फर्माया,
मन भरपूर करे। करे जो इसका....

जो सती सुभद्रा नारी, थी दया धर्म पर वारी,
उसने कर करनी भारी, चम्पा सी नगरी तारी,
नूरो नूर करे।। करे जो इसका ...

पडी कष्ट में चन्दनबाला, सिरमूंडा हाल बेहाला,
फ़ेरी नवकार की माला, कट गया कर्म जंजाला,
चकनाचूर करे।। करे जो इसका....

श्री रामचन्द्र की रानी, सीता की सुनो कहानी,
बोली नवकार की वाणी, बन गया अग्न का पानी,
हाजिर हुजूर करे।। करे जो इसका....

सती सोमा ने भी ध्याया, शुद्ध मन से ध्यान लगाया,
अद्भुत आश्चर्य है छाया, जब सर्प हार बन आया,
नहीं मजबूर करे।। करे जो इसका....

● रेशमी सलवार....।

● कुछ नेक काम....।

कुछ नेक काम करले, दुनिया में आने वाले।
दर छोड पाप का तूं, अपना उसे बनाले ।।

जायेगा जब यहाँ से कुछ भी न साथ होगा,
दो गज कफन का टुकड़ा, तेरा लिवास होगा,
वेहतर है इससे पहले, मन साफ़ तू बनाले। कुछ ..

आया है तूं कहाँ से, जाना वता कहाँ है,
रहने को इस जहाँ में, तेरा नही मकां है,
इक रात के मुसाफिर, चलना तुझे अकेले। कुछ..

सिफ्ते करेंगे तेरी, दुनियाँ के लोग सारे,
गर तू सच्ची लगन से, प्रभु नाम को चितारे,
भक्ति से अपनी दर्शन, अपना उसे बनाले। कुछ....

● ओ रात के मुसाफिर....।

● कर्मां दी रेख बुरी

कर्मां दी रेख बुरी, जेहड़ी भर-भर नैन रुलाये।। कर्मां....
कर्मां ने ड़ोरे जिन पर ड़ाले, भाग ओहना दे हो गये काले।
दर-दर शाह भटकाये।। कर्मां....
कांशी मे विक गये हरिश्चन्द्र तारा, राजकुमार रोहतास बिचारा।
वन-वन राम रुलाये।। कर्मां..

कोई हस्सदे कोई रोंदे फिरदे, बोझ कर्म दा ढौंदे फिर
समदर्शी सुख पाये।। कर्मां....
मुनि दर्शन सब जीव जगत के, बाधे कर्म जंजीर जकडके।
दुःख लाख चौरासी विच पाये।। कर्मा....

● तर्ज पजाबी।

● नमस्कार-स्मरण

बोल मनवा बोल नमो अरिहंताण।
राग-द्वेष सहार, नमो अरिहताण ।।
बोल मनवा बोल, नमो श्री सिद्धाण।
अष्ट सिद्धि भण्डार, नमो श्री सिद्धाणं ।।
बोल मनवा बोल, नमो आयरियाणं।
आचार पालनहार, नमो आयरियाणं ।।
बोल मनवा बोल, नमो उवज्झायाण।
सूत्र ज्ञान दातार, नमो उवज्झायाण ।।
बोल मनवा बोल, नमो लोए सव्व साहूणं।
करे सकल कल्याण, नमो लोए सव्व साहूण ।।

बोल मनवा बोल नमो अरिहताण।
बोल मनवा बोल नमो श्री सिद्धाणं।
बोल मनवा बोल नमो आयरियाण।
बोल मनवा बोल नमो उवज्झायाण।
बोल मनवा बोल नमो लोए सव्व साहूण ।।

● छोडकर सारे वतन को

छोडकर सारे वतन को, हस-अकेला जायेगा ।।
बन्दा कहता काया मेरी, काया का अभिमान क्या?
चाद सा चेहरा तेरा ये, माटी में मिल जायेगा।। छोड़कर .
बालापन खेलन मे खोया, जवानी मे सोता रहा।
बूढा हुआ मरने लगा जब, खाट पे गिर जायेगा ।।..

क्या तू लेके वहाँ से आया, क्या तू लेके जायेगा?
मुट्ठी वान्धे आया जग में, हाथ पसारे जायेगा।। छोड़कर....
करना हो जो करले वन्दे, नहीं पीछे पछतायेगा।
कहत कवीर सुनो भई साधो, करनी के फल पायेगा ।। छोड़....

● सूंघता कोई नहीं....।

● यह तेरा जीवन...।

यह तेरा जीवन फूल है, कि रहा भूल है, पापों के संग में।
फूल को रहा क्यों रोंद रे, वदियों के रंग में ।।...
नेकी वदनामी तेरे, साथ चलेगी। वीवा साथ....
जैसा वीज वोए वैसी, खेती फलेगी। वीवा खेती....
खुले हुए सव रास्ते, तेरे वास्ते, जीवन के सफर में।
भूल न जाना कहीं देखरे, कांटों के डगर में ।। यह तेरा....
पूर्व पुण्य से नर देही मिली है। वीवा नर....
चाँदनी यह चन्द रोज की ही खिली है। चन्द....
व्यर्थ न जाए तेरी जिन्दगी, कर वन्दगी, कुछ लाभ उठाले।
त्याग वुराई सदा प्रेम से, प्रभु के गुण गाले।। यह तेरा....
भूखे दुखियो की जो तू फरियाद सुनेगा। वीवा फरि....
युग-युग जग तुझे याद करेगा। वीवा याद....
नहीं तो होगी शर्मिन्दगी, कि फैले गन्दगी, जव तक तू रहेगा।
दिन में 'अमर' सौ-सौ वार तुझे, जग वुरा ही कहेगा। यह तेरा....

● तू मेरे प्यार का फूल है...।